बाँसों का



बाँसों का झुरमुट

[ग्यारह मौलिक कहानियाँ]

आचार्य्य जानकीवल्लभ शास्त्री

निराला निकेतन
मुजफ्फरपुर—१ (बिहार)

आचार्य-रचनावली—२

बाँसों का झुरमुट (प्रारम्भिक कहानियों का संकलन)

प्रथम संस्करण : जुलाई, १९७९ ई०
द्वितीय संस्करण : अक्टूबर, १९८९ ई०

पन्द्रह रुपए मात्र

निरालानिकेतन (अनुपम-प्रकाशन) मुजफ्फरपुर–१ के लिए,
जनहित प्रेस, रामबाग रोड, मुजफ्फरपुर द्वारा मुद्रित

BANSON KA JHURMUT

(Short Stories) by : Acharya Janaki Vallabha Shastri

प्रेमचन्द-परम्परा

की

अन्तिम कड़ी,

हिन्दी के सबसे सहज कथाकार

राधाकृष्ण जी

को

रांची और पटना में जिनके जीवन्त साहचर्य्य में गुजरे हुए दिन मेरी जिन्दगी की कहानी के कुछ अविस्मरणीय सन्दर्भ हैं।

—जानकीवल्लभ शास्त्री

निरालाजयन्ती
१ फरवरी' ७६

क्रम



ये कहानियाँ :

निराला की दृष्टि में

दो-एक कहानियाँ पढ़ीं। बहुत पसन्द आईं। भाषा है, अलङ्कार हैं और कला भी है।'

'पहले सोचा था, आप जैसा लिखते हैं कि कहानियाँ शिथिल हैं, वैसा ही होगा; लेकिन असलियत उल्टी दिखी। सब कहानियाँ पढ़ूँगा। फिर राय दूँगा। . .'

२-११-४० —निराला

'श्री जानकीवल्लभ शास्त्री, शास्त्राचार्य्य, हिन्दी के श्रेष्ठ कवि, आलोचक और कहानी-लेखक हैं।

'अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता, लेखन-कौशल और दिव्य व्यवहार से उन्होंने अनेक बार मुझ पर अपनी गहरी छाप डाली है।

'हिन्दी के साहित्यिक उत्थान में बिहार की आधुनिक प्रतिभा को मानना पड़ता है। जानकीवल्लभ वहाँ के, और समस्त हिन्दीभाषी प्रान्तों के प्रतिभाशालियों में एक हैं।

'उनके संस्कृत और हिन्दी के भावपूर्ण, ध्वन्यात्मक कलामय पद्य और आलोचनाएँ मैं पहले देख चुका था, इधर उनकी कहानियाँ देखीं।

'कहानियों की भाषा मँजी हुई, वाक्य-विन्यास, बात-चीत, स्थल और घटनाओं का वर्णन, उठान, पूर्ति और परिसमाप्ति की कलात्मकता लिए हुए, ध्वनि और अलङ्कारों से सज्जित हैं।

'आनन्द लेने और सीखने की इसमें बहुत-सी सामग्री है।'

२६-६-४१ —सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

'कहानियाँ हैं रोचक, सरल, काव्यमयी।'

'गद्य में जानकीवल्लभ जी ने चार चाँद लगा दिए हैं। हिन्दी उनके हाथ में कली की तरह दल खोलती जा रही है।

'पुस्तक भाव और भाषा—दोनों की दृष्टि से यथेष्ट बन पड़ी है। इसका अधिक प्रचार हिन्दी के सँवरने का साधन होगा।'

२२-१-४३ — निराला

बैन अटपटे

'बाँसों का झुरमुट' में मेरी ग्यारह प्रारम्भिक कहानियाँ संकलित हैं।

सन् '३५ से' ४५ तक के एक दशक में मैंने छोटी-बड़ी मिलाकर कुल पचपन कहानियाँ लिखी थीं। ग्यारह संस्कृत में और चौवालीस हिन्दी में। संस्कृत कहानियाँ साकेत के 'संस्कृतम्' तथा काशी के 'सुप्रभातम्' में छपी थीं। हिन्दी कहानियाँ 'माधुरी', 'कहानी', 'संगम', हुङ्कार' आदि में। संस्कृत कहानियों के सङ्कलन का नाम 'सा' रखा था, वह अभी तक अप्रकाशित है। हिन्दी कहानियों के तीन सङ्कलन उन्हीं दिनों प्रकाशित हुए थे—कानन, अपर्णा, लीलाकमल। कानन का पाकेट एडिशन भी निकला था। अब वे प्रकाशक न रहे। वर्षों से मेरी कहानियाँ दुष्प्राप्य हैं।

धूल-मिट्टी-सनी इन कहानियों की खुरदुरी परतों से संरचनात्मक 'आयरनी' किस हद तक उभर कर उजागर होती है, चार दशक पहले के परिवेश और मानसिकता के भीतर से परखने पर प्रकट होगा। सख्त और भुरभुरी मिट्टी की अटपट खटपटाहट का वह ऐसा खुलाव तब कुछ कानों को अनसुना लगता था, नए अन्दाज और तेवर में करवट बदलती तकनीक कतई टकसाली नहीं, बल्कि कटी लीक से एक हद तक हटी दिखती थी, अब मूल्याङ्कन के नए आयाम सही जमीन की तलाश के तहत बखूबी उघड़ रहे हैं, अप्रतिबद्ध कहानियों के तंग दायरे और कितने हौसले संजोएंगे?

× ×

मैं सन् ३२ के जून में पढ़ने के खयाल से गँवई गाँव से निकलकर बनारस शहर पहुँच गया था। मुफलिसी के मर्ज में मुबतिला था। खैराती दवाखाने की तलाश थी। दरअस्ल बेसब्री में तब क्या, अब भी कम ही लोग मुझे पहुँच सकते हैं। न कोई सिफारिशी खत, न किसी से जान-पहचान, ताहम बजाय जुलाई के, जून में ही पहुँच कर क्यू में लग गया और आस बाँधे बैठा रहा कि कौन जाने कहीं से कोई डौल बँध ही जाए!

ठीहा हुआ अन्नपूर्णा मन्दिर का ब्रह्मचर्य्याश्रम, काम गङ्गास्नान, विश्वनाथ-दर्शन, पुरुषसूक्त का सस्वर पारायण और नागरी प्रचारिणी या कारमाइकेल लाइब्रेरी के वाचनालय में पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते-पढ़ते जानकारों के जरिए दाखिला लेने के वक्त और तरीके का सुराग लगाना। जानकार सुनी-अनसुनी कर देते, चन्द गरजमन्द ही हौसला बढ़ाते थे।

सन् १९३० से प्रेमचन्दजी 'हंस' निकाल रहे थे, उस साल उसका 'आत्मकथाङ्क' निकला था जिसकी विषम, किन्तु बहुचर्चित समीक्षा स्व-सम्पादित 'भारत' में पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी ने की थी।

'हंस नाम प्रसाद जी का ही दिया हुआ था, 'मुक्ता–मञ्जूषा' और 'नीर-क्षीर-विवेक'– जैसे सार्थक स्तम्भ भी उन्हीं की सूझ थे और....– तीन साढ़े–तीन हफ्ते की मुसलसल भागदौड़ से जो मुझे समसामयिक गतिविधियों की हल्की-फुल्की जानकारी हुई उसका मुख्तसर-सा नतीजा यही निकला कि कहीं दाखिला मिले न मिले, आगे की पढ़ाई का सिलसिला जमे, न जमे मगर जब यहाँ तक आ गया हूँ प्रेमचन्द और प्रसाद के दर्शन अवश्य कर लूँ।

एक चक्कर खाकर अनदेखे को पहुँचती सी-लीक प्रसाद और प्रेमचन्द के आकार में ढल गई थी, 'कल मोर मिलने से अच्छा है आज कबूतर ही मिल जाए'—वाली चुहल हर्गिज न थी मन में।

और एक दिन गोधूलि वेला में गोदौलिया की ढलान से चौक की चढ़ाई चढ़ता-चढ़ता एक दो-मोड़ों पर कलोलें करता हुआ नारियल बाजार के नुक्कड़ पर जमी प्रसादजी की सुर्ती-सुँघनी की दूकान पर पहुँच गया। बेला की कलियों की एक माला बिश्वनाथ गली में खरीद ली थी, यहां के हवाबतासी अट्टहास में उसकी मन्द गन्ध उड़ी-उड़ी चल रही थी।

श्वेत चेतना हिमानी-सी जमने लगी कि 'खाली हाथ गुरुजनों के निकट जाना मना है' सोच कर जो फूलमाला प्रसादजी के लिए लाया था वह उनके इतने करीब बैठे इन तीन-चार लोगों की तरफ ताके बिना कैसे उन्हें भेंट करूँ! घबराए दिमाग पर अपना गर्म हाथ डालता, पर वह इस द्वन्द्व-अन्धकार में कहीं ढूँढ़े नहीं मिल रहा था। अनायास एक पास खड़े से पूछ बैठा ; कौन-कौन हैं ?

उसने कान में कहा ; प्रेमचन्द, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' और विनोद शङ्कर व्यास। घनी मूँछोंवाले प्रेमचन्दजी हैं, लाल टीका वाले द्विज जी और रईसजादे व्यास जी।

त्रैलोक्य के इस इकट्ठे ऐश्वर्य्य की खुशनुमा कल्पना भी मेरे फटे-चिथड़े माथे में नहीं आ सकती थी। उसे घुटन, ऊब और विवशताओं से साबका पड़ता रहा था, मुसीबत के वक्त उमंगें उठें, हिलकोरे आएँ, मौन उच्छ्वास स्मित-हास में तबदील हो जाए, निसर्ग का मन्दस्पन्दन लय-तान बन जाए,— ऐसा अनुभव कब हुआ था ? यह तो कालिदास के शब्दों में—

पिपासाक्षामकण्ठेन याचितञ्चाम्बु पक्षिणा
नवमेघोज्झिता चास्य धारा निपतिता मुखे

(प्यास से खुश्क गले से पंछी ने चन्द बूदें माँगीं और उसके मुँह में नए मेघ ने धारा ही उड़ेल दी ।)

अपने गाँव की लाइब्रेरी से लेकर 'अशान्त' पढ़ा था, उसका लेखक ऐसा सजीला जवान होगा, एकदम अमीर-उमराव, गुमान न था। जाने क्यों, उस रोज मुझे व्यासजी के चेहरे पर झलमला अँधेरा या झुटमुटे के बीच का-सा प्रकाश ही दिखा था।

'द्विजजी' को सन् २८-२९ से 'चाँद' में पढ़ता आ रहा था। कुर्ते पर चादर, चौड़े माथे पर रोली का टीका, चुप बैठे रहने पर भी पर भरते-से नयन, कुल मिलाकर 'माधव' जी से कुछ-कुछ मिलता-जुलता व्यक्तित्व सरल आत्मीयता का प्रतीत होता था।

प्रसाद जी का जो चित्र 'स्वर्ग के खँडहर में' कहानी के साथ 'सुधा' के विशेषाङ्क में देखा था, आज की प्रसन्न-प्रफुल्ल आकृति में उसी की रश्मि-रेखाएँ थीं। उनकी चमकीली आँखों को जैसे चमेली की महक लिए, मधु-मकरन्द से भीगी हवा गहरे, कहीं और गहरे, दिल की तनहाइयों में, उड़ाए लिए जा रही हो ! सोने को दमकानेवाले अङ्ग-रंग से स्मित-हास्य के मिस छिटकती हुई छटा पूरे माहौल को बसन्ती बूँदों से नहला रही थी। दोपहर में जो गर्द एहसास पर जम गई थी, वह इस सन्दली बूँदावाँदी में हल्दी और दही के खुशगवार कीचड़ में तबदील हो गई थी।

अलबत्ता प्रेमचन्द्र का जो चित्र मैंने 'माधुरी' में देखा था कमोज-कोट पहने, भरे चेहरे पर रौबीली मूँछें, करीने से काढ़े बाल और एक साँस में बहुत-सी अच्छी बातें कह डालने की ख्वाहिशें लेकर उभरी जमीन की सोंधी खुशबू का खुश्क जाम पिए हुए 'बड़री अँखियाँ', वह इस धोती-कुर्ते से मिलती-जुलती उज्ज्वलता को और धोने, और निखारने पर भी भिन्न था। वह इस 'नागरी-प्रचारिणी' में गँवई-गाँव के एक खुशमिजाज किसान-नेता-सरीखे दिख रहे थे। अन्तर था तो यह कि नेता की हँसी में ऐसी जिन्दा गुदगुदी नहीं होती; सुबह से जरा पहले के देखे ऐसे जानदार ख्वाब नहीं होते !

बोल फूटना नामुमकिन था। यह धनाधन आतशबाजियाँ छूटने से किस्म-किस्म की कुदरती फुलझड़ियों से बिखेरा हुआ उजाला था। यों मेरे आजू-बाजू शाम का अंधेरा पड़ना शुरू हो चुका था। यह तो अचानक दुगुनी रौनक हो जाने से नजर चुँधिया जाती थी। बेबुनियाद हँसी से मुँह

तप रहा था, नासमझी की लाली भी रुँधे आसमान से उतर आई थी और मेरे भीतर जैसे बगैर साज और आवाज के यह नग्मा छिड़ गया था :

यही जमीं तेरा मस्कन, यही तेरा मदफन,
इसी जमीन से तू मेह्रोमाह पैदा कर !,

इस अजब इत्तफाक पर खुशियों से लहालोट हो रहा था कि मेरे जेहन में या कहीं तंग दिल की तनहाई में एक और ऐसा ही वाकया उभर आया।

संस्कृत की फिजामें पनपने के कुछ गलत कुछ दुरुस्त तरीके सीखने के सिलसिले में मैं एक दफा पहले भी बनारस आया था। बस आया ही आया था, कहीं कोई डौल न बँधने से इम्तहान देकर उल्टे पाँव लौट गया था।

साजसामान के नाम अपने राम के पास बनजारों-जैसी एक मटमैली पोटली भर थी। इम्तहान खत्म होते ही वह बाईं काँख में दाबी और सेंटर से सीधे राजघाट स्टेशन की ओर चल पड़ा। रास्ते में टाउन हाल वाले पार्क के पास हारमोनियम-तबले की आवाज पर पाँव ठिठक गए। किसी को कहते सुना: 'नागरी प्रचारिणी सभा के प्राङ्गण में पण्डित विष्णुदिगम्बर पलुस्कर जी का कार्य्यक्रम हो रहा है।' अब और अल्लम-गल्लम बातों में वक्त जाया करने से क्या फायदा ? जहाँ जिन्दगी की फ़िज़ा हो वहाँ रूह के जलते चिराग को इस सोच की हवा कैसे बुझा सकती कि अन्नी के चने चुगने और सोलह कोस पैदल चलने के खर्च के अलावा अंटी में जो पैसे बच रहे हैं, उनसे किसी-किसी तरह तीसरे दर्जे का एक टिकट भर खरीदा जा सकता है, आज अभी यह गाड़ी छोड़कर कार्य्यक्रम सुनोगे तो फिर खाओगे क्या ? रहोगे कहाँ ?

सवाल रहे जहाँ के तहाँ: खाने को हवा खा लेंगे; सोने चले जाएँगे राजघाट के प्लेटफार्म पर. बस-? और जैसे एक अर्से से घात में होऊँ, पलक झपकते सभा स्थल पर पहुँच गया और रेतभरी सीप-सा आँखों का बचपन बैठने की सही जगह पाने में बाधक न बना। हर साज के साजिन्दों की दाएँ-बाएँ एक-एक जोड़ी थी, काली टोपियाँ पहने एक-से-रंग-रूप के तरुण अरुणों के सधे हाथ सुरलय की सुरसरि में तैरते-से दिखते थे। पीछे दो तानपूरे इन्द्र-धनु के तोरण-से अर्धवृत्ताकार झङ्कार भर रहे थे और आगे देवर्षि नारद-जैसे गैरिक वस्त्र, तप्त जाम्बूनद-से अङ्ग-रङ्ग, चैत की चाँदनी-सी सुफेद दाढ़ी, तिलकित विशाल भाल, –विष्णु दिगम्बर जी कठताल लिए पद्मासन में विराजमान। मन्द्र में गान्धार तक का अवरोह सुस्पष्ट सुनाई देता, तार में धैवत-निषाद तक का; किन्तु साँसों के कैसे भी दबाव में चेहरे पर शिकन नहीं –मुँदे इन्दीवर- से नयन-युगल और शरच्चन्द्र-मन्दिर-सा प्रफुल्ल मुख-

मण्डल। दत्तात्रेय विष्णु पलुस्कर (डी० वी० पलुस्कर) जी को उनके सहज स्वर भर का उत्तराधिकार मिला था, दुर्गम पथ पर सृजनात्मक ऊर्ध्वगामी सञ्चरण का नहीं तो गोरे चेहरे और खिचड़ी केशों पर चिपकी काली टोपी में उन महर्षि पिता की झाईं की झलक ही, मुमकिन है, मिलती हो, और कुछ नहीं, यह एक अटल सच्चाई है। ओङ्कारनाथ के बाद आसमान पर पहुँची हुई कलाकार व्यक्तित्व की ऊँचाई सतह पर उतर आई ऊपर उठने की सख्त मनाही के साथ। इस सवाल पर कुछ को झुँझलाहट भी महसूस होती है, कुछ यूँही इसे मुस्करा कर टाल जाते हैं।

यहाँ प्रसाद और प्रेमचन्द, दोनों एक-से गोरे, एक-से प्रभावशाली व्यक्तित्व के व्यक्ति इतने पास-पास बैठे थे। प्रसाद का चेहरा भरा, अनिश्चय, असन्तोष और आक्रोशहीन; प्रेमचन्द का सूखा मुख, अन्दरूनी उलझनें सुलझाती-सी झुरियाँ, गन्तव्य पर पहुँचने की पहचान लिए चमकीली आँखें। बेशक हँसी-ठहाके की एक होड़-सी मची थी, परन्तु पलड़ा प्रेमचन्द का ही हर बार भारी पड़ता था। प्रेमचन्द की हँसी समुद्र मथने से बेपनाह उफनते झाग की-सी और प्रसाद जी की सरोवर के निर्मल तल से उठती तरलतर तरङ्गों-जैसी थी। व्यास जी को रूमाल के लिफाफे से उमेठ कर हँसी खोलते और द्विज जी को मणिधर नाग की-सी ठनकती हुई हँसी हँसते देख मैं भी अकारण हँस पड़ता था। कुछ दिनों के बाद विनोदशङ्कर जी ने बताया था; मेरी नासमझ हँसी कहीं गहरे मन की मिट्टी गीली करती हो, आँखों से खोखलापन ही जाहिर होता था! जो हो,

फिर कभी उन्हें इकट्ठे देखने का इत्तफाक न हुआ। युनिवर्सिटी में दाखिला लेने के बाद रुइया होस्टल में जगह मिल गई और मैं कई मील के फासले पर फेंक दिया गया। तूफान के हौसलों से मेरा उगते परों का पंछी न टकरा सका। हाँ, अलग-अलग रंगों की वह हँसी धूप और चाँदनी की तरह मेरी धमनियों में घुलती रही; अँधेरा थामे हुए हाथ को किरन-किरन की छुअन का एहसास होता रहा। उदास और मनहूस घड़ियों में जब खुरदुरे उसूल कच्चे जख्म की तरह जिन्दगी के जिस्म पर उभर आते, वह हँसी ठंडक और ताजगी का तसव्वुर लाती रही।

एक अर्सा गुजर गया। प्रसाद जी टाउन हाल में बड़े पैमाने पर आयोजित रत्नाकर जी की शोकसभा में दिखे, फिर घर या दूकान आते-जाते सड़क पर किसी न किसी के साथ अक्सर दिख जाते। हर बार उनकी हँसी का अक्स मेरे बेवजह मुरझे मुँह पर तैर जाता। उनकी बेमिसाल शख्सियत के साए में उन रोज गुजारे हुए चन्द लम्हे हर मुलाकात पर उभर-निखर उठते।

उनके अनमोल बोल और मार्मिक मुसकान के बाँकपन में अब एक सीध-सी पैदा होने लगी थी। अब मैं कुछ रुक-रुक, कुछ अटक-अटक कर बोलने भी लग गया था।

इसके ठीक उल्टे, एक मुद्दत हुई, प्रेमचन्द जी की कहीं झलक तक न मिली। मैंने होस्टल के दो-एक गुजराती (भीमसेन, दुर्गाशङ्कर नागर) मित्रों से जनार्दन नागर को साथ ले चलने कहलाया। वह प्राय: जाते रहते थे। डौल न बँधने पर तनहा निकल पड़ा।

तब सरस्वती प्रेस मृत्युञ्जय महादेव के पास राय कृष्ण दास के एक नए मकान के बड़े फाटक के अन्दर था। मैनेजर प्रवासीलाल वर्मा मालवीय को ढूँढ़ता हुआ छापाखाने में दाखिल हो गया।

प्रेमचन्दजी मेज पर तनिक झुक कर जल्दी-जल्दी कुछ लिख रहे थे। मेरे विनम्र अभिवादन का दन्तुरित स्मित से नि:शब्द उत्तर देकर लिखना बन्द कर दिया। मन ही मन योजना बनाई थी कि पहले वर्मा जी मिल गए तो कहूँगा एक दुरंगा लेटर पैड छपवाने आया हूँ, प्रेमचन्द जी के दर्शन करने भी; किन्तु तब यह न सोचा था कि सौभाग्यवश यदि प्रेमचन्द जी के दुर्लभ दर्शनों का हीं सुयोग पहले जुट गया तो क्या कहूँगा ! मैं बेहद शर्मिन्दा-सा गुफ्तगू के तमाम पहलू भूल एक तरफ ठिठका खड़ा रहा। तभी वह घनी मूछों में उलझी मुसकान को तनिक बुनकते हुए-से रौबीली आवाज में बोले : बैठिए।

आज भी तो उसी रोज-जैसी खादी की उटंगी धोती और मटमैला कुर्ता पहने हुए थे। वही छाता पीछे एक कुर्सी के कंधे से लटक रहा था। पाँवों में वैसे ही मालूली, कपड़े के जूते पड़े थे। सब कुछ वही, कहीं जौ के बराबर भी फर्क नहीं। हाँ ! उस रोज हमसफरों के बीच का खुलाव था, आज उसके अभाव में चेहरा मूँछों में डूबा हुआ-सा दिखता था। आबदार आँखें धारदार भवों से ढकी-ढकी-सी लग रही थीं। तभी उनके सवालात का एक तरतीब में जबाब देते हाथ-पाँव फूल रहे थे, अक्सर हामी भरने के अन्दाज में सकपका कर सिर ही हिला देता था। औचक कुछ ऐसी आ पड़ेगी कि सामने पड़ने पर सिट्टी-पिट्टी गुम हो जायगी, गुमान न था। बहरहाल अजनबीपन की धुन्ध छंटती गई, आहिस्ता-आहिस्ता घोंघे ने मुँह खोला।

रुत बदलने की देर थी, जी बदल गया। कोई शै मेरे अन्दर है जो जब-तब चक्कर की तरह उठती है। उसके चढ़ावे-बढ़ावे का लाजिमी नतीजा था मन का बांध तोड़ बैठना। बकवास के बीच से यह छनने पर कि बातास के ऊपर बातास की एक लहर ही मुझे इस ओर बहा लाई, बर्ना मेरी माली

हालत अपने गाँव की हद पार करने की भी इजाजत न देती, या यह कहने पर कि कविता-कहानी लिखने के मेरे शौक की सतही और कमजोर बुनियाद को दिल की फाँस निकाल डालने वाली आपकी सीख ने गहराई, सख्ती और पुख्तगी बख्शी, या फिर यह मालूम होने पर कि अब तक मैंने उनकी दो ही चीजें पढ़ी हैं—उपन्यास सेवासदन और 'माधुरी' के विशेषाङ्क में प्रकाशित कहानी—'शुहाग का शव', तो उनके सूखे चेहरे पर उभरते-डूबते भाव नाव को माझी के हाथों सुपुर्द करनेवाले न होकर, खुद हाथ बढ़ाकर जोर-जोर से डाँड चलाने के इशारों-से झलकते थे। मेरी बहक और भूल-भटकाव से न ऊबे, न उस्तादाना अन्दाज से मुसकुराए।

उस रोज की या वैसे ही दूसरे-दूसरे दिनों की सारी की सारी बातचीत को यहाँ फ्रेम देना मुमकिन नहीं। रचाव और सँवार-सजाव तो दरकिनार, मेरी बिखरी और खुरदुरी ज़ुबान इस काबिल कहाँ कि वंजर को शादाब करने वाले उस नेकख्वाह बादल की रिमझिम फुहार को कलम की नोक पर उठा लूँ!

दरअसल मेरी दरमान्दा सपाट बयानी में वह लोच, मासूमी और मानूसियत कहाँ, उनकी जगह तो तकल्लुफ और बनावट ने ले ली है और कहना न होगा प्रेमचन्द जी की बातों की रूह अमूमन बड़ी ठेठ-सी चीज हुआ करती थी।

पीछे 'हंस' में शमशेर और मुक्तिबोध के साथ छपता रहा! एक साल तो 'कहानी' के हर अङ्क में मेरी कोई न कोई कहानी आई, मगर सख्त अफसोस कि उनकी मौजूदगी में मेरी एक ही कहानी—'मीना'—माधुरी में छप सकी थी; उन्हें नजर करते होंठ काँपे थे, हाथ भी।

यों तो उनकी याद जिन्दगी से लिपटी है, राधाकृष्णजी और डा० दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी से मिल बैठने पर अक्सर उनकी उन बातों और घटनाओं को सान दिया जाता था जो अब इतिहास बन चुनी हैं! मगर इस वक्त जाने क्यों, उनकी उस दिन की हँसी-हँसी में कही दो बातें बहुत याद आ रही हैं :

'……पाणिनि-पतञ्जलि और दण्डी-बाण की मुश्किल पढ़ाई के साथ गद्य-पद्य लिखने का यह शौक कोरी उड़नबाजी से भरा हुआ नहीं हो सकता।

'—आँख मूँद कर लिखने का इरादा हो तो कविता लिखिए, आँख खोल कर लिखने की ख्वाहिश हो तो कहानी।'

जानकीवल्लभ शास्त्री
निराला निकेतन मुजफ्फरपुर
१ जुलाई १९७९

मीना

'मैं भी लूंगी मां,'—मुन्नी मां के फटे-चिटे आंचल का एक छोर छू कर बोली—'तोते बिकने आए है !'

मां की जिंदगी के पथरीले किनारे से टकरा कर मुन्नी की लहरीली आवाज धुंधले-से सन्नाटे में टूट-बिखर गई। कोई और वक्त होता तो अनुगूंजों में ऊंचे चढ़कर, हौले-हौले, फिजाओं में फिसलती।

'यह तो आते ही रहते हैं,'—खुश्क-सपाट चेहरे पर गीली-गाढ़ी हंसी पोत कर मां ने कहा,—'फिर कभी ले लेना बेटी !'

'नहीं मां,'—मुन्नी ने मां के बाल-जाल में अपनी नन्हीं-नन्हीं उंगलियां उलझाते हुए कहा—न हो, 'किसी से दो पैसे उधार ले लो न, उतने में तो एक तोता मिल ही, जायगा !'

उधार ! कुछ और सोचे, उसके पहले ही मां की आंखों पर आंसुओं की झिलमिली झिलमिल कर उठी। सामने दीवार पर बिच्छुओं की-सी परछाईं रेंगने लगी। बँधी मुट्ठी अपने-आप खुल गई। लड़की की जिद जीती। उसके आगे मां की एक न चली। वह हार गई। ओस-भींगे गुलाब-से कोमल करतल कठिन ताल पर बज उठे। तोते को फिर-फिर चूमती-पुचकारती मुन्नी के मुंह में, उसी के दांतों-सा साफ-सफेद एक अनमोल बोल था :

'मां, फिर बहाना बनाओगी ?'

X X X

लोग हैं जो गांव को धरती का स्वर्ग कहते हैं। तब ग्रामवासी स्वर्गवासी क्योंन हों ? छछन कर रह जाता है मन कि नारायणपुर गांव में जहां हर साल महामारी फैलती है, घर के घर साफ हो जाते हैं, वहां गांव की ओदी आबादी पर जरा-भी आंच क्यों नहीं आती ? नारायणपुर की जगह कोई वैकुण्ठपुर क्यों नहीं बस जाता ? सच तो यह कि स्वर्गवासी मरते कहां हैं ? वह तो मरने का ढकोसला भर करते हैं। मर सकते तो जीना भी जान जाते !

इस बार मगर अमर मर गए। और ढेर सारे ढाक के तीन पात ढेर हो गए। पहले काल पड़ा। गरीब इमली के पत्ते पर डंड पेलते रहे। जब महाकाल डंका बजा कर हैजे पर सवार पधारे और मरभुखों के घर डगडगा

कर पानी पिया तब फिर बच-बचाव की कोई गुंजाइश न रही। दाढ़ी फटकारते हुए जिसे कनखी मारी, वह वहीं-का-वहीं अंटा गुड़ गुड़ हो गया।

मरने से पहले मुन्नी के बाप का नाम अमर था। असली जात गरीब की थी, कहलाते ब्राह्मण थे। बेहद सीधे थे, यों पढ़ा बहुत था। पीठ पीछे उनकी बेवकूफियों के किस्से कह-सुन कर खूब कहकहे लगाए जाते थे। मसलन— राघव ने जरा-सी गलती पर एक कुतिया की तीन टाँगें काट कर उसे नदी किनारे फेंक दिया था। अमर ने सुना तो उसे उसी वक्त उठा कर अपने घर ले आए। जब तक जिन्दा रही, मरहम-पट्टी करते रहे। आप आधा पेट खा कर रह जाते, मगर उसे खिलाने-पिलाने में कोई कसर उठा न रखी। मर गई तो फूट-फूट कर रोए भी।

...गाँव में एक हट्टा–कट्टा आदमी आया। निहत्था था, तोड़-फोड़ कर सकता था: कुछ बना–बिगाड़ सकता था, परन्तु निपट निहत्था था। लड़के छेड़ते, कंकड़ फेकते, वह उन्हें अचम्भे से देखता और मुसकिरा देता। एक दिन अमर ने भी उसे देखा और देखते ही गाँववालों को सावधान कर दिया : सिद्ध पुरुष है, लोक–परलोक की चिन्ता से मुक्त, हर्ष–विषाद से ऊपर उठा हुआ, इसके चरण छुओ, सेवा करो, दुख न दो, दुख दोगे तो इसके शाप से सारा गाँव जल जायगा।

मगर गरीबों का गाँव बारहों महीने, तीसों दिन जलता ही तो रहता है, वहाँ पानी छिड़कने कौन आता है! जल जाएगा तो जल जाए। आँख दिखाना कम न हुआ, ठुकरानेवालों में होड़ बंधी रही। नजर पड़ते ही हूठा देकर लोग अपने-अपने कामों में जाते। वह निठल्ला भी कभी पीपल की जड़ से टस से मस न हुआ। सोई रात, सब की नजर बचा कर अकेले अमर ही उसे फंज पहुंचाते थे।

अब वही अमर मर गए। माँ उन्हीं की सतवंती विधवा और मुन्नी इकलौती बेटी है। मरते मरते भी वह कुछ ऐसा सहेज बटोर कर नहीं छोड़ गए कि इन दोनों अनाथों का बाइज्जत भरण-पोषण हो सके। ले-देकर दो-चार हल्के चाँदी के गहने और काँसे-पीतल के कुछ टूटे फूटे बर्तन थे, जिन्हें सस्ते दामों बेच-बेच कर माँ किसी-किसी तरह मुन्नी को पाल-पोस रही थी।

पुश्तैनी सवा बीघा धर्मोत्तर में मिली जमीन थी, जिसकी तीन सौ रुपए कीमत आँकी गई थी जो उनके श्राद्ध और बर्षी को ध्यान में रखकर मुन्नी के

दयालु ताऊ ने उदारतापूर्वक दो किस्तों में अदा कर दिए थे। अब एक-झोंपड़ा नुमा खपरैल ही सम्पत्ति के नाम पर बच रहा था।

सुबह सवेरे घबराई सी मुन्नी जगी। उसका गला पसीने से तर था, बोल के नाम घिग्घी बँध रही थी। आँखें सुर्ख और आँसुओं से डलबल थीं, जैसे जल भरे ग्लास में दो लाल मछलियाँ तैर रही हों!

उसके चेहरे पर तैरती सरलता और चुलबुलाहट की जगह एक अजब-सी हैरानी थी, लाल-लाल होठों पर खेलती हुई हल्की मुस्कान पुंछ गई थी, रेशम-से मुलायम केशों के गुच्छे खिची हुई बेल की तरह बेतरतीब बिखर गए थे।

उपरले स्तर को उतार कर उसका अन्तःस्वर मर्मान्तक कातरता में से फूटा:

'माँ, पिंजड़ा?'

माँ इस अनचीन्हे स्वर से बिंध कर हड़बड़ाई-सी यों उठ बैठी कि उसका दिल जोर जोर से धड़कने लगा। अंधेरे में झपकती-मुंदती पलकें-अंगनैए के ऊदे प्रकाश में तिनके चुनने लगीं।

नीले होंठों से पीले दाँत बाहर निकाल कर पोपले चेहरे की झुर्रियों पर हाथ फेरती हुई वह बोली: सामने वह तो रहा पिंजड़ा! क्यों, क्या हुआ? वहीं तो टँगा था! क्या और कहीं टाँगा था? तू तो कहती थी....'

'माँ, मैं एक बहुत बुरा सपना देख रही थी। रात उल्लू की बोली सुन कर सोई थी न, शायद इसीलिए!'

'कैसा सपना बेटी? तू तो खुद एक जीता-जागता सपना है, किसी मरी माँ की खुली आँखों का! तेरी बन्द आँखों में घुसने की कोशिश करनेवाले बुरे सपने का तो मैं मुंह झुलस दूं।'

अब तक दुःस्वप्न का आवेश कौंध कर बुझ चुका था। मुन्नी के मन पर जो सर्द साए झुक आए थे, वह जैसे उसी के उच्छ्वास से तितर-बितर हो गए थे। फिर माँ के अमित स्नेह की तेज-तेज हवाओं में तड़फड़ा कर उड़ने भी लग गए थे। वह हकला-हकला कर कहने लगी:

'माँ, मैंने देखा एक काला भुजंग आदमी! छोटे छोटे कान, बड़े बड़े दाँत, और खड़े-खड़े बाल। वह ताई के छप्पर से कूदा और गला टीपने की मुद्रा में पिंजड़े पर झपटा। मीना ने चीख-चीख कर मेरा नाम पुकारा; मैं

जड़ मूला से हिलने लगी, मगर हाथ-पाँव तो सुन्न हो गए थे, पिंजड़े के पास न जा सकी। मीना की गरदन मरोड़ कर वह फिर तुरत ताई के छप्पर पर चढ़ गया।'

सपना सुन कर माँ के दिल की धड़कन बेहद बढ़ गई। इस तल्ख एहसास ने तो उसे तोड़ ही डाला कि होनी उसकी मुट्ठी में नहीं। हाथ पत्थर-तले दबा है। गाड़ी को कौन जरा हूल दे कि वह चरमराती हुई चल निकले! फिर भी, अन्दर-अन्दर की हिचकियों-रुंधी रुलाई बाहर छल-छल हंसी में ही छलकी :

'अरे! कोई काली बिल्ली रही होगी! जब से यह तोता पाला है, तुझे कभी अपने तन-बदन की सुध भी रहती है? बस, रात-दिन मीना-मीना की ही तो रट लगाई जाती है! अच्छा, अब आंख जमा कर देख ले मीना को और हाथ-मुंह धोने चल।'

मुन्नी के रुआसे चेहरे पर अधमुंदे किवाड़ों की फांक से रेंग कर आई रोशनी बे-असर बुझ गई। वह जैसे अपनी ही छोटी-सी खाट के चौखटे में कील दी गई हो, तनिक हिली-डोली तक नहीं।

माँ के लम्बे रूखे मुंह और खड़ी नाक पर पसरी घनी बरौनियाँ विरक्ति और ऊब की हालत में मनहूस-सी लगती थीं। हाँ, जब बड़री अंखियाँ बरसने को होतीं, तब वह ऊंचे विषाद की छाई बदली-सी दिखती थीं। कड़वापन पीने या पीते रहने पर मिठास की प्यास कहाँ बुझती है? माँ की तल्ख जिन्दगी सब्जबाग दिखा कर मुन्नी को बहलाती आई है कि समय पड़े की बात है, वह लिखपढ़ कर तैयार हुई नहीं कि सब ठीक हो जायगा। मुन्नी के सूखे होंठों से सहज ही कलरव नहीं फूटता था। वह अतिरिक्त प्यार-दुलार से सहम कर चौकन्नी हो जाती थी।

माँ ने छेड़ा : तो फिर आज का दिन सपने में ही कटेगा?

मुन्नी कहे तो क्या कहे? उसकी आँखें कुछ और चाहती थीं; हृदय कुछ और! कण्ठ स्वर माँगता था, पर स्वर भरी बरसात में जैसे सूख गया था। फफक कर बोली :

'माँ, मैं मर जाऊंगी!'

'यह क्या बकती है मुन्नी?'—आँसुओं-भरी आँखों की धुंधली जोत में अपना भूला-बिसरा अस्तित्व टटोलती हुई माँ चीखी।

'माँ, मीना के न रहने पर मैं रहूंगी ? आखिर किस अपराध के बदले उसने मीना की गरदन मरोड़ी थी ? उसे देख कर, मेरी छाती धक धक करने लगी थी और मीना की करुण पुकार तो अभी तक मेरे कानों में गूंज रही है। हत्यारे के पंजे से बच निकलने के लिए उसकी तड़प और छटपटाहट तुमने नहीं, मैने देखी थी, माँ ! उसने मेरे प्राणों के अंधेरे घोंसले में छिपना चाहा था; पकड़े जाने के बाद उसने मेरी ही गोद में पहली पहली बार आजादी की साँस जो ली थी, आनन्द से घूम-फिर कर अपनी सुरक्षा का मौन आश्वासन जो पाया था ! माँ, तुम्हारे लिए वह निरा तोता है, उसके न रहने पर इसबार तुम अपने आप दूसरा खरीद लोगी। मगर मैं मर जाऊंगी तो किसी गली-कूचे से एक और लड़की उठा लाओगी, माँ ?'

'मुन्नी, तू पागल हो गई ?'—बड़बड़ाती हुई माँ उसे खींच कर जबर्दस्ती हाथ-मुंह धुलाने ले गई।

X X X

सूरज के डूबने भर की देर होती, झाड़ी-झुरमुटों से निकल कर घुग्घू बोलने लगते थे। यहाँ वहाँ स्यारों के हुआँ हुआँ और कुत्तों की भौंक से सन्नाटा, छिद कर और भी भयावना हो उठता था।

मुरझाए हुए मन को तो सूरज भी हरा नहीं कर पाता, काली रात की क्या बिसात कि वह किसी के बुझे हुए दिल को उमगों के सितारों से भर दे ?

माँ मगर मुन्नी का दिल बहलाने में तन-मन से लगी थी। कभी अपने बचपन के गुदगुदी पैदा करनेवाले किस्से सुनाती, कभी कभी करुण कण्ठ से कोई भूली-बिसरी कड़ी गुनगुनाती। बडी दूर से खेल कर आई हुई सी मुन्नी जैसे दम मार रही हो, घडी भर दमदिलासे से वहलती, फिर जैसे किसी मिहराबदार छाजन वाली नालकी में बैठ कर अनजान जंगल पहाड़ पार करने निकल जाती।

इस बार माँ ने अपने व्याह से लेकर मुन्नी के पैदा होने तक की ब्योरेवार कहानी शुरू की। कैसे मुन्नी के पिताजी ने मन्नत मानी थी, ईश्वर और धर्म पर उनका कितना विश्वास था, तुलसी चौरे पर ताँबे की कटोरियों में नर्मदेश्वर और शालग्राम को धोते-नहलाते, अक्षत-चन्दन चढ़ाते समय उनकी आँखों में कैसी एक छवि छाती थी जिसे मैं देखती ही रह जाती थी। कहते थे, दरिद्रता भगवान की देन है ! धर्म का सौदागर अमीर होता है, मै तो धर्म का एक मामूली-सा-पुजारी हूं ! धर्म दुःख का ही एक अच्छा सा नाम है।

'मैं उनके धर्म पर कायम न रही। तुम्हें ठीक-ठीक पाल-पोस कर बड़ा करने और लिखाने-पढ़ाने के लिए मैंने यह नौकरी मंजूर कर ली। जेठानी तानें देती रहती हैं कि मैं बाँमन होकर सुद्दर के जूठे बर्तन उठाती हूं। है यह सफेद झूठ। मैं तो सिर्फ खाना पकाने पर हूं। जब-तब चौके में बालगोपाल पहुंच कर हुडदंग मचाने लगते हैं तो मुझे, जो भी कच्चा-पक्का तैयार रहता है, चटपट परोस कर देना पड़ता है। बच्चे खाते कम, गींजते ज्यादा हैं। कभी-कभी उनके हाथ-मुंह भी धोना-धुलाना पड़ता है। किसी के लेखे यह काम कितना भी गन्दा क्यों न हो, मैं उनके जूठे बर्तन फटाफट न उठा लूं, तो कोई उस चौके का खाना छुए तक नहीं।

'अब इसे जो कहे कोई, काम कर के खाने में क्या बुराई है? जेठ जी डोम-दुसाध के यहाँ पूजा कराने जाते हैं, वह सुद्दर नहीं, कायथ सुद्दर है?

'बस, कोस भर का फासला बेहद अखरता है। खास कर रात में लौटते वक्त सहम-सहम कर कदम रखती हूं, फिर भी कलेजा हद-हद करता रहता है। करूं भी क्या, वर्षों में कहीं यह नौकरी मिलने की नौबत आई। बहुत दिनों से मेरी यह साध थी कि जात का झूठा गौरव झटक दूं, भूख-प्यास से बिल बिलाकर न मरूं, दुनिया पर बोझ बन कर न रहूं, मिहनत-मजूरी करके गुजर बसर करूं।'

माँ की आँखें छप्पर पर उड़ रही थी। तन था तो था, न था तो न था। मन मुन्नी का मन कुरेदने में आप चिरा जाता था। मगर मुन्नी थी जो गाढ़ी नींद सो गई थी—जैसे केले के पत्ते पर जलबिन्दु। पास की सूखी जमीन रण ठान कर खामोश लेटी है, कहीं हुई वर्षा की सौगन्ध सुगन्ध फैला रही है। हृदय की धड़कन ने जो गाया, प्यासा आकाश पी गया। पुतलियों ने इङ्गितों में जो लिखा, अंधेरे ने पोंछ दिया।

सूरज-चाँद के दिए जला कर जीवन से मृत्यु तक फैले अंधेरे रास्ते पार करनेवालों ने ऐसे ही अपनी सूखी-गीली अनुभूतियाँ सुनाई हैं और उनका श्रोता सोता रहा है। उष्ण उच्छवास युग-युगान्तर तक बादल बनकर मरु में बरसें, यही उनकी नियति है।

मुन्नी के यों गहरी नींद सो जाने से माँ ने राहत की साँस ली कि सौ बार की कहीं-सुनी कहानी सुनी तो, न सुनी तो, क्या फर्क पड़ा। ज्यादा जिद न की। झिड़की देने की नौबत न आई। सहज सहज सो गई। चलो, यह

भी अच्छा ही हुआ। सारी का पल्लू दाब कर वह चुप चुप उठी और आकाश-गंगा में गोते लगाने लगी कि जहती बहती किसी दूसरे किनारे जा लगे। जेठ-अनूठी शान से कहीं से इठलाते हुए आए थे और जेठानी ने कुछ बड़बड़ाते हुए किवाड़ खोले ही थे कि उनके दोनों हाथों और कन्धों पर कई-कई पोटरियाँ देख कर उनका स्वर बदल गया था। जेठ फुसफुसा कर फुरहरी छिपा रहे थे कि मुण्डा भुइयाँ की हत्या उतारने में यह हाथ लगा है। मुन्नी की माँ सुनती और मन मसोस कर रह जाती कि जिसके कोई नहीं, वह दोनों हाथों बटोर रहा है और जो दाने-दाने का मुहताज है उसे अपनी जात की कम, दूसरे की जात की ही बहुत फिकर है।

मुन्नी के पिता यही सब न कर सकने के कारण जीवन भर दरिद्रता भोगते रहे। अपनी ऐसी यजमानी इन्हें सौंप दी, आप भूखों मरे। धूप में सूखे, मगर आँखों में चाँदनी के सपने सजोए रहे कि वह ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण हैं, उन्हें चतुर चण्डाली को बढ़ावा दे कर अपनी जघन्य जीविका नहीं चलानी है। बगुले-सा कपटी और कौए-सा कुटिल नहीं बनना है।

उसके होंठों पर एक सूखी-सी, थकी-सी मुसकान फैल गई, अनखौही जेठानी को कुछ भी खबर नहीं कि अनचोते उनकी देवरानी ने अपनी आँखों क्या सब देख-सुन लिया; कि उसे उनकी जलीकटी सुनने, अनखाहट सहने की शक्ति कहाँ से प्राप्त होती है! अंधेरे की हर पर्त के नीचे रोशनी की एक पतली-सी लकीर हल्के हल्के खिचती-खिंचती रहती है। आखिर पर्तों की गिनती और कैसे होती है!

मीना के पिंजड़े के करीब आ कर देखा, वह बिसुध सोया पड़ा है। दिए में सटे सूखे अन्न के कणों से दिन भर कलोलने का आभास मिल रहा था। स्कूल से लौटने पर मुन्नी उसी से मन बहलाती है। रजिया की मौसी कहती थी: एक रोज वह भिंडी और तरोई बेचने निकली थी तो मुन्नी की बोली सुन धड़धड़ाती हुई आँगन में पहुंच गई थी और वहाँ जो देखा था उस पर एकबारगी आँखों को यकीन नहीं आया था। देखा था कि मुन्नी खाली खटोले पर चित्त लेटी है और मीना उसके होंठों पर टोंट रख कर मुन्नी-मुन्नी की रट लगा रहा है और मुन्नी फीरोजी रंग के उसके डैने हल्के-हल्के सहला रही है। मुझे देख अनमनी-सी उठ खड़ी हुई और भुनभुना कर बोली: माँ नहीं हैं। मगर बोलते वक्त भी उसी पर आँखें बिछाए थी और जैसे भीतर-ही-भीतर झुंझला उठी थी कि ख्वाह म ख्वाह मैं क्यों सवालों की झड़ियाँ लगा कर उसे परेशान

कर रही हूं। वह तो अभी अभी स्कूल से लौटी है। छेड़ने पर उकताई सी बोली : किसके साथ खेलूं ? दूधनाथ के घर जाओ तो उसकी माँ झल्ला कर उसे दो झापड़ लगाती हुई बड़बड़ाती है : ले, खा ले अब, हिस्सा बटाने आ गई, वक्त की कैसी गहरी पहचान है मुनियाँ को : तू खाने बैठा नहीं कि वह आ धमकी !

ताई के करीब से झिझकी-सी निकलो तो गला फाड़ कर दुत्कारेंगी : अपनी जात में आज तक कोई लड़की नहीं पढ़ती थी, देखती हूँ, अब तू यह टीका पोंछ कर ही रहेगी। लिख-पढ़ कर बेशर्म छमछमियाँ बनेगी, किसी छैल चिकनियाँ के साथ…

मुन्नी की माँ, मेरी मानो तो कहूं, मेरे बच्चे उसे जबर्दस्ती बधने का पानी न पिलाएंगे, मुर्गी की टाँग न खिलाएंगे। उसे उन्हीं के साथ खेलने कहो। ऐसे तो पागल हो जाने का अंदेशा है।

आज मुन्नी का जन्म दिन था। मोरपंखी सपने पलकों-पलकों में बदरंग हो चुके थे, इन्द्रधनुष के रंग भिंची मुठ्ठियों में स्याह पड़ गए थे। मालकिन से दो रुपये पेशगी माँगे थे, वह आज ही मिलने वाले थे। सोचा था कि जब काम खत्म कर मुंह मीठा करने के सामान के साथ घर लौटेगी, तभी मुन्नी को सबब बताएगी।

मानव-मन की एक-एक चेष्टा कितनी कितनी तरहों में बंटी हुई हैं। पग पग पर नई नई ठोकरें खा कर भी वह बन्द गलियारे से खुले चौराहे की ओर ही दौड़ लगाती है। वह जीने की उत्कट आकाङ्क्षा के आगे है। जीना ज्यों-त्यों भी चल सकता है, समझौते की कमजोरी के साथ; किसी की गुलामी मंजूर करके मगर कैसी भी कठिनाई से फांद कर आगे निकल जाने की कामयाब या नाकाम कोशिश क्या सिर्फ जीने की ही इच्छा है ?

मुन्नी की माँ ने मुन्नी को सरल भाव से समझा दिया था कि आज मालकिन ने कुछ जरूरी काम से उसे जल्दी बुलाया है, वह जल्दी ही लौट भी आएगी।

जल्दी न आ सकी थी तो सिर्फ इसलिए कि मालकिन ने मुन्नी के जन्म दिन की बात जान कर उसे अपनी हाथ मशीन से एक कपड़ा सिल कर देने के लिए रोक लिया था। झिड़का भी था कि उसने उन्हें पहले क्यों न बताया था : वह आज यहीं मुन्नी का मुंह मीठा करने बुलवा लेतीं।

मुन्नी की माँ मानसिक घात-प्रतिघात के बवंडर में उड़ती-उड़ती-सी आ

रही थी। उसे तेजी से घूमते हुए पहिए ठहरे-ठहरे-से लग रहे थे। आँखों की सीप में आँसू-से मोती ढल रहे थे। मुमूर्षु भावनाओं को आधार नहीं मिल रहा था। मुठ्ठियों में रिक्तता भींचे हुए थी, यों बिल में केंचुल की तरह उसके हाथ में भी मुन्नी के लिए मिला हुआ फ्राक हिल-डुल रहा था। जब-तब उसी की परिधि में उसकी छाँह एक और परिधि-सी डूबती-उतराती अपने अतिरिक्त व्यक्तित्व की उपस्थिति से उसका दिल दहला देती थी।

ऐसे में एक सियार ने रास्ता काट दिया। उसकी चौकन्नी आँखों की बची-खुची चमक भी अन्धेरे ने लील ली। वह लगातार अपने को कोस रही थी : क्यों न आज के दिन के लिए मालकिन से छुट्टी माँग ली थी! क्यों न मुन्नी को साथ ही ले आई थी! आज तो और दिनों से भी देर हो गई! क्यों उसका विश्वास टूट-टूट कर बिखर रहा है! कैसे-कैसे संशय से आज उसका अधूरा ज्ञान चल-विचल हो रहा है! जिस युग में नैतिक मर्यादाओं का मूल्य लगातार गिर रहा है और भौतिकता का उजला अँधेरा विकास की नई-नई सीढ़ियाँ उजागर कर रहा है, वह अपनी वहमी प्रकृति को आध्यात्मिक प्रेरणा मान कर चलाती है। फाकों की नौबत गुजर रही थी, जब नौकरी की, मगर जमाने की गर्दिश की वजह से गर्द-गुबार उसकी नजर पर न ठहर सकी थी। फिर अभी ये सितारे ऐसे धुंधले क्यों लग रहे हैं, इनकी आँखों की रोशनी का क्या हुआ? और आज उस झुरमुट में यह क्या कंजड़ों ने रैन बसेरा लिया है? उनकी कारस्तानी तो जग-जाहिर है! वैसे मेरे पास अगौढ़ के दो रुपए और इस झलमले फ्राक के अलावा छीन-झपट के लिए है ही क्या? अरे हाँ, और साल तो ये बाबाजी के बगीचे में ठहरते थे, अबके यहाँ इस बंसबाड़ी में कैसे डेरा डाल दिया! हर दफा इनका अगोरिया होता था सुक्कन चौकीदार, इस बार इनकी अगोरदारी में क्या कोई न होगा!

जी उकताता है, मुफलिसी नहीं झिलती; मगर कालकोठरी में हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने से भी कौन-सा कारूं का खजाना हाथ लगने वाला है!

मुन्नी को सिर्फ पोसना-पालना ही नहीं, लिखा-पढ़ा कर किसी बड़े काम के लायक भी बनाना है। मैं उसे ज्यों-त्यों कर अचार डालने का मर्तबान नहीं बनाना चाहती; न मरभुखों की जमात बढ़ाने वाली! मैं मरजाद गंवाने के लिए तो रसोईदारिन नहीं बनी!

···बंसवाड़ी में कंजड़ कहाँ? अरे! यह तो गाँव के लोग हैं। क्या हुआ? सबेरे महावीर जी को धजा चढ़ानी थीं। शामत सवार हुई थी कि शाम को, दिया-बत्ती के वक्त, सोमरा बाँस काटने आया था, साँप ने डंस लिया। कोई संग-संघाती नहीं, जाने कब से बेहोश पड़ा था!

बाँमन टोले की एक लड़की मुन्नी अपने खोए तोते को ढूँढ़ती-ढूंढ़ती इधर निकल आई थी। बंसवारी में घूम रही थी, आँसुओं से तरबतर, हाथ में एक खाली पिंजड़ा लिए हुए। मीना-मीना की उसकी दर्दीली पुकार सन्नाटे में गूंज रही थी कि तभी बाँसों के झुरमुट से औचक निकल कर मीना उसके पिंजड़े पर जा बैठा। वह तो खुशी से नाच उठी, इतमीनान से अपनी थकान दूर करने लगी। पर तभी वहीं-कहीं पड़ा सोमरा सुगबुगाया या करवट बदली या कैसी भी हरकत की। बेशक सांझ के झुटपुटे में। मुन्नी की समझ में कुछ न आया। वह बेतहाशा भागी, मीना को कलेजे से चिपटाए बाएं हाथ से पिंजड़े को पीठ की तरफ लटकाए हुए। सिवाले के पास मंहगू मिला। मुन्नी ने उसे इशारतन बंसवाड़ी में बेवक्त सोए हुए सोमरा के बारे में बताया। यह उसी की भीड़ है। झाड़-फूंक चालू है। बच जाने की उम्मीद है। सब कह रहे हैं : मीना ने ही आज सोमरा की जान बचाई। वैसे घर वालों को जाने कब खयाल आता!

मुन्नी की माँ आँचल की ओट से बोली : यह तो निरी नादानी है। तोता रहमदिल हो और सगे लापरवाह, यह कहना गैरवाजिब है!

बोलने वाले ने एक-एक शब्द पर बल देकर समझाया कि कैसी गई गुजरी कूढ़मग्ज औरत हो तुम, जो कुलफे का साग खाए बगैर तुम्हारे हलक के नीचे ऐसी मामूली-सी बात भी नहीं उतरती दिखती!

अरे! घास-पात के सहारे ज्यों-त्यों जिन्दगी बसर करनेवाले पशु-पक्षियों को मनुष्य किस अपराध के कारण मार कर खा जाता है?......

राम-सीता को घर से किसने निकाला था?...और जटायु सीताजी को बचाने के लिए अपनी जान पर खेल गया था या नहीं?

जटायु कौन था?

'३५

—०—

नचिकेता

'और, मुझे किसे देंगे ?

X X X

'बोलते क्यों नहीं पिता, आप मुझे किसे देंगे ?

X X X

'इस सर्वमेध में आपने सर्वस्व होम दिया, जिन्होंने कभी माँ की भाँति आपको दूध पिलाया होगा, गोष्ठ की वे सभी बूढ़ी गाएं ऋत्विगों को दक्षिणा-स्वरूप भेंट कर दीं, फिर पाँच वर्ष के अपने इस अकिंचित्कर पुत्र को किसी के भी आगे डालते मन क्यों कुण्ठित हो रहा है ? बताइए न पिता, आप मुझे किसे देंगे ?'

'यम को ! हाँ, यम को !'

—कहते हुए पिता वाजश्रवस उद्दालक की शुभ्र भृकुटियाँ कुटिल हो गईं और उनके रक्त नेत्रों से अग्नि-स्फुलिंग विकीर्ण होने लगे। नचिकेता को तीक्ष्ण वाग्बाणों से बेधते हुए उन्होंने अपने शब्द फिर दुहराए :

'यम को !—सुना तूने ?'

फिर जीर्ण-शीर्ण दाँतों को पीसकर टेढ़े होठों में उपहास की विकृत हंसी उलझाए हुए बोलते रहे : मूढ़ पुत्र, मैंने तेरे ही लिए गृष्टि और दोग्ध्री और पयस्विनी गौएं बचा रखी थीं, और सड़ी-गली ब्राह्मणों को दान कर दी थीं। तेरे ही अभ्युदय की कामना से मैंने यह विश्वजित् यज्ञ किया था। किन्तु तू ठहरा नचिकेता ! 'नचिकेता' का अर्थ तू क्या जाने ? नचिकेता कहते हैं कुछ न जानने वाले महामूढ़, अज्ञानी को ! तेरे भाई जन्म लेकर मर-मर जाते थे, अतः मैंने तेरे जीने के लिए तेरा कुत्सित नामकरण किया था जिसे तूने वस्तुतः सार्थक कर दिखाया। अब क्या ? जा, मर !

और जैसे विद्रोह के तेज ने तत्काल नचिकेता को अज्ञात यम-लोक पहुंचा दिया। वहाँ की श्मशान-सी धूमिल निर्जनता में उसके काकपक्ष धूल-धूल हो रहे थे और बालादित्य-सा प्रभामय मुख मण्डल स्वेद-क्लिन्न दीख पड़ता था। उस अपूर्व-अद्भुत पर दृष्टि पड़ते ही चौदहों यम एक साथ हड़बड़ा कर निकल

पड़ । पाँच वर्ष का कुमार नचिकेता उनसे घिर जाने पर एक अलौकिक मधुर मुसकान के साथ अभिवादन की मुद्रा में उनमें से एक-एक को सकौतुक देखता रहा । यम ने पूछा: तुम कौन हो ? नचिकेता ने बताया कि वह वाजश्रवस मुनि का एकमात्र पुत्र है । कुछ लोग उन्हें उद्दालक और कुछ लोग गौतम भी कहते हैं । उन्होने विश्वजित यज्ञ किया और दक्षिणा में यज्ञ कराने वालों को चुन-चुन कर ऐसी-ऐसी गाएं दीं जो अब और चारा पानी नहीं कर सकती थीं, जिन्होंने आजीवन अपने बछड़ों का दूध उन्हें पिलाया था, हविष् की आहुतियों द्वारा उनके देवताओं को आप्यायित किया था, किन्तु अब तो उनके अस्थि-कंकाल मात्र शेष रह गए थे ।

मुझ से यह दृश्य देखा न गया । जहाँ उन्हें अपना सर्वस्व लुटा देना था वहाँ वह बहुमूल्य को बचा रहे थे और अपदार्थ को सर्वथा व्यर्थ समझकर दान के बहाने अपने पास से जैसे हटा रहे थे !

मैंने उनका मोह-भंग करने के लिए हठ ठान कर आत्म-दान करने का संकल्प लिया और उन्होंने इसके बदले मुझे मृत्यु को दे दिया !

नचिकेता बोलता रहा :

मेरे पिता ने मुझे मृत्यु को ही दिया है । सब कहते हैं, वह सनकी प्रकृति के हैं । बुद्धि विवेक के अनुरूप उनका व्यवहार नहीं होता । वस्तुत: मेरे प्रति उनकी अतिरिक्त मोह-ममता ही उन्हें अनुचित और अन्यायपूर्ण कार्य करने पर विवश कर देती है ।…

मृत्यु ने बात काटी :

अन्तक तुम्हें बता चुके हैं, तुम मेरे अंक में अनायास आए हुए निरीह प्राणी, मेरे कोप और कृपा के परे हो । यहां मृत्युलोक के समान अविचारित कर्म नहीं किया जाता । तुम मृत्यु के योग्य नहीं हो ।

मृत्यु की इस असंदिग्ध उक्ति पर धर्मराज, वैवस्वत, काल, क्षय और औदुम्बर ने एक साथ सहमति प्रकट की ।

उत्पल दल से नेत्रों से जल छलका कर नचिकेता ने कहा :

पिता को क्षुब्ध मैंने ही किया था । दो बार मेरा आग्रह टालने का अनुग्रह उन्होंने शीतल और मौन रहकर किया था । तीसरी फूंक मारने पर आग हो

गए। मुझे एक बार ही मृत्यु को दे दिया ! अब मैं क्या करूं ? आप मुझ पर सन्देह न करें। अपने चरणों में शरण दें।

दध्न से न रहा गया, उन्होंने नील, परमेष्ठी, वृकोदर और चित्र की ओर मुड़ कर कहा :

बालक बिना किसी मिलावट के सच्ची बात बोल रहा है। इसने पिता से ढिठाई की। उनकी असहिष्णु कोपन प्रकृति को अपनी उच्छृङ्खलता से उत्तप्त किया। यह पिता के अभिशाप से दग्ध है। इसे…

चित्रगुप्त अब तक चुप थे। वह शेष तेरह यमों का नियम-संयम अपनी दाढ़ी के एक-एक बाल पर हाथ फेरते हुए परख रहे थे। चित्र को सम्बोधित कर बोले :

'नहीं चित्र, नहीं। पिता के शाप से पुत्र दग्ध नहीं, विदग्ध होता है, पिता द्वारा किया हुआ निग्रह सन्तान पर सर्वोपरि अनुग्रह है।

नचिकेता की चेतना सिहर उठी। चित्रगुप्त के अनमोल बोल में उसे दिव्य स्पर्श की अनुभूति हुई।

चित्रगुप्त ने अपने ललाट की रखाएं गहरी कर बालक के इस निगूढ़ भावपरिवर्त्तन को लक्ष्य किया। हृदय में हसे कि पारदर्शी लोचनों से निष्पाप कौमार्य का झांकना कैसा मनोहर है ! बोले :

'निर्भय हो ! तुम मृत्यु के योग्य कदापि नहीं। पिता की अन्तर्गूढ़ कटुता अपनी निर्मल हंसी से धो डालो। बोलना कि चौदह यम मिलाकर भी तुम्हारा 'बाल बांका न कर सके।' तुम नितान्त निर्दोष हो। यम भी किसी निर्दोष पर पौरुष का प्रदर्शन करें तो उनमें और उनके सुलभ आहार—मनुष्य में क्या अन्तर हो ?'

चित्रगुप्त बोलते रहे :

'माता-पिता में खोट देखने का अभ्यास सन्तान के भविष्य को प्रभावित करता है। जो लोग ढलती अवस्था में व्यवस्था के विरुद्ध होने जाते हैं, वे प्राय: बाल्यकाल में माता-पिता पर अश्रद्धालु रह आए होते हैं। पिता चाहे जिस विधि जीवन-यात्रा करते हों, वे उससे बूंद-बूंद निचोड़ा हुआ अमृत ही अपने पुत्र को पिलाना चाहते हैं। क्योंकि तब उनका जीवन तो ज्यों-त्यों बीत चुका होता है और वह अमृत उनके पुत्र को जीवन-संग्राम में एक योद्धा के समान उतरने का साहस और शक्ति देता है !

'तुम पिता का दिया हुआ अमृत पीकर आए हो, तुम मृत्यु के योग्य नहीं हो।'

जैसे हरियाली पर स्वर्ण-वर्ण किरणें बिछी हों और अचानक नील नीरद-खण्ड उन पर अपनी परिछाईं उगाने उमर आए, कुछ ऐसी ही नचिकेता के भाव की दशा हुई। चित्रगुप्त की भाषा का रंग उसकी शिराओं के रुधिर में घुल कर प्रखर हो गया। प्राणों से गुम्फित स्वप्न एक ही उच्छ्वास में उड़ चला। उसके पिता के आहत शब्द मन की गगन-गुफा में प्रतिध्वनित होने लगे : तुम्हें मृत्यु को देता हूं!

और उसी के साथ चौदहों यमों का समवेत स्वर: तुम मृत्यु के योग्य नहीं हो!—अनाहत नाद-सा गूंजने लगा। उसकी प्रज्ञा की ज्योति झञ्झा की लपेट में आ गई। झिलमिलाई और बुझ गई। वह मूर्च्छित हो गया।

जब उसकी आँखें खुलीं तब वहाँ कोई न था। उसने पिता की करुणापूर्ण वाणी सुनी थी, उनके जरा-जर्जर हाथ का शीतल स्पर्श अनुभव किया था, फिर सत्य को देखने में उसकी दृष्टि धुंधली क्यों हो गई? हृदय का स्पन्दन क्यों तीव्र हो गया? उसने पिता से वात्सल्य की आशा नहीं की थी। प्रार्थना! वह तो और भी नहीं। फिर वह अश्रुतपूर्व आर्द्र आह्वान किसका था?

नचिकेता इस अचिन्त्य, अप्रमेय के लिए प्रस्तुत न था। वह इस मानसिक वेदना से मुक्ति चाहता था। उसके अशान्त हृदय का प्रथम उत्ताप यह था कि अपने कुपित पिता को किस प्रकार विश्वास दिलाएगा कि वह यमलोक से सदेह लौट आया है!

उद्गम संशय का हो या विश्वास का, कहीं भीतर, गहरे में होता है। गंगोत्री गंगा का उद्गम नहीं, प्रकाश है।

नचिकेता पिता का विश्वास प्राप्त करना चाहता था। आप्त उसका वचन नहीं माना जा सकता था, जब भी वह इसी लालसा में पड़ा तड़प रहा था।

ऐसे में किसी की भाषा-हीन हँसी फूटी। नचिकेता ने चौंक कर दृष्टि उठाई तो उसे निर्वाक् रह जाना पड़ा! साक्षात् यमराज खड़े थे। बोले :—'तीन दिनों से निरन्न, निर्जल सोए हो, क्या कोई बहुत लम्बा स्वप्न देख रहे हो?'

'.... ... ...'

'तुम सत्य समझ रहे हो, मैं ही यमराज हूँ। तुम्हें मुझे ही दिया है।'

यमराज नचिकेता को अङ्क लगाए खड़े रहे। नचिकेता ने ऐसे राशीभूत अन्धकार-जैसे शीताङ्गार का स्तूप पहले कहाँ देखा था! यमराज के अञ्जन-गिरि के समान विराट शरीर से सट कर उनका वाहन महिष भी खड़ा था; जिसके चक्राकार शृङ्ग, नीललोहित नेत्र और आर्द्र नासापुट उस किमाकार अन्धकार को अवयवों में विभक्त कर रहे थे। पंचवर्षीय बालक की षष्ठ इन्द्रिय सजग और निर्भय थी। उसने निःशङ्क स्वर में पूछा :

'आप अबतक कहाँ थे ?'

यमराज ने उच्छ्वास छोड़कर कहा:—'एक महात्मा राजर्षि की आत्मा निकाल लाने गया था। तीन दिनों के कठिन परिश्रम के पश्चात् सफलता मिली !'

'कैसे ?'

'वह शास्त्रों में अखण्ड विश्वास रख कर यज्ञ को स्वर्ग का सोपान मान बैठे थे। यज्ञ में हिंसा को धर्म समझ पशुओं के साथ नृशंस आचरण करते थे। अन्त काल में संशयालु हो उठे, क्या हिंसा धर्म है ? फिर तो निर्दयतापूर्वक मारे गए पशुओं का करुण क्रन्दन उनके श्रवण और मन में गूंजने लगा। वह मृत्यु द्वारा इस अरुन्तुद वेदना से मुक्ति प्राप्त करना चाहते थे, परन्तु प्राण जैसे कठुआ गए थे। कैसे भी निकलते ही न थे। मैंने तीन दिनों तक उन्हें इस निदारुण यन्त्रणा का स्वाद चखा कर सदा के लिए मूर्च्छित कर दिया।'

'जिस स्वर्ग के लिए उन्होंने यज्ञ के नाम पर निरीह पशुओं की हत्या की, वह उन्हें मिला क्यों नहीं ?'

'अन्तकाल में उनके मन में सन्देह जो उत्पन्न हो गया था। सर्व-सन्देह-निवारण के निमित्त ही शास्त्र है। जो चर्मचक्षु से नहीं दिखता, सन्देह होने पर शास्त्र उसे ज्ञान-चक्षु से दिखलाता है। शास्त्र पर अविश्वास होने पर अधोगति निश्चित है।'

'स्वर्ग के सम्बन्ध में मेरी जिज्ञासा अशेष है। मैं क्रमशः समझूँ। अभी मुझे योग्य सेवा की आज्ञा दें मैं आपका वशंवद हूं।'

'अरे नहीं, तुम ब्राह्मण, बालक, अतिथि, तीन दिनों के भूखे-प्यासे, पहले कुछ खाओ-पिओ, फिर और बातें होंगी। गृहस्थ के घर अतिथि अग्नि के रूप में आता है। पाद्य अर्घ्य जल से उसी अग्नि का शमन किया जाता है।

नचिकेता के निरातङ्क सस्मित मुखमण्डल से एक ऐसी प्रसन्न प्रभा फूट

रही थी जिसे यमराज ने निकट से अनुभव किया था। वह मन ही-मन सोचते थे कि जो मेरे सामने सहज है, वह किसी दूसरे के समक्ष विचलित होगा ? इस शुद्ध-सत्व निर्भय आत्मा का मृत्यु क्या बिगाड़ लेगी ? यह तो जन्मजात अमर है। फिर भी लोक शिक्षा हेतु परीक्षा लूंगा।

और तब नितांत कवोष्ण स्वर में कृतान्त बोले :—

'नचिकेता, तुमने तीन रात मेरी एकतान प्रतीक्षा की। मुझसे साक्षात्कार के पूर्व जलाचमन भी न किया। मैं तुम्हारे सम्पूर्ण समर्पण से परम प्रसन्न होकर तुम्हें तीन रातों के कठिन तप के बदले तीन वर प्रदान करना चाहता हूं। बोलो, तुम्हें क्या दूं ?'

'मेरे मन की सुषुप्त शक्तियों का क्रमबद्ध उद्घाटन तभी से हो रहा है जबसे आपके दर्शनों का संकल्प लेकर चला। दर्शन हुए तो मन निर्विकार हो गया। कोई कामना शेष न रही।...'

'पिता की प्रसन्नता की कामना भी नहीं ?'

'क्यों नहीं ? वह तो सर्वोपरि है। कहते हैं. पिता प्रसन्न हों तो सब देवी-देवता प्रसन्न होते हैं। नहीं तो नहीं।'

'तो लो, मेरा प्रथम वरदान तुम्हारे पिता की आन्तरिक प्रसन्नता ही हो। वह यज्ञ के थोथे ढकोसलों से, और सड़ी-गली गाएं दरिद्र ब्राह्मणों को देकर भी जो न पा सके, वह निर्वैर, निश्चिन्त प्रसन्नता उन्हें अब प्राप्त हो। क्रोध के आवेश में तुम्हें यम को देकर जो उनका चित्त अनवरत अनुताप से दग्ध हो रहा है, वह अब तुम्हें सकुशल लौटा देख शान्त, शीतल और आनन्द के आँसुओं से धुल कर निर्मल हो !

'अच्छा, अब दूसरा वर ?'

नचिकेता को जैसे किसी ने झँझोड़ कर सोते से जगा दिया। अतिकुपित पिता की अकल्पित प्रसन्नता की कल्पना करके उसका हृदय आनन्द-विभोर हो रहा था। उसे जैसे इसी एक वर से सब कुछ मिल चुका हो, वह सजल जलद-सा मौन रहा।

यमराज ने कहा :

'स्वर्ग के सम्बन्ध में तुम्हारी गहरी जिज्ञासा थी कि वहाँ के निवासियों को जरा-मरण का भय नहीं रहता, कभी भूख-प्यास भी नहीं लगती और वह

सब स्वर्ग के साधन-स्वरूप अग्नि से ही सुलभ होता है, तो लो, अब द्वितीय वरदान के रूप में मैं उस अग्नि का रहस्य तुम्हें देता हूं :

'अज्ञानी जिसे पाने के लिए एड़ियाँ रगड़ते हुए मरते हैं, अपने क्रूर हाथों असंख्य पशुओं को नरक भेजकर आप स्वर्ग पहुंचना चाहते हैं, उस स्वर्ग-लोक की प्राप्ति के साधन तथा आश्रयभूत अनन्त अग्नि को तुम अपनी ही बुद्धि में विद्यमान मान लो। कोई भी बुद्धिमान स्वर्ग की कामना नहीं करता, क्योंकि जैसे अपने कर्मों से अर्जित मर्त्यलोक छूटता है, ऐसे ही अपने पुण्यों से अर्जित स्वर्गलोक। न तो जीव मर्त्यलोक में स्थिर है और न स्वर्गलोक में। आवागमन का चक्कर दोनों लोकों में एक-सा चलता है।

'निर्बल व्यक्ति कोई व्रत नहीं ले सकता। व्रत मन को दृढ़ और शक्तिशाली बनाता है और संयम न हो तो व्रत का पालन सम्भव ही नहीं है। इतने पर भी मनुष्य चाहे तो लगन और अभ्यास से मन को संयत कर सकता है। निष्काम भाव से किसी व्रत का पालन करने के लिए मन का संयम अति कठिन है, अतः पहले यज्ञ द्वारा तात्कालिक सुख-दुख से मन को ऊपर उठा कर एक ऐसे आनन्द लोक की कामना से स्थिर और सहिष्णु बनाना है, जो मनुष्य को लौकिक संकटों से कटना नहीं, डट कर उनका सामना करना सिखा दे कि उसे इन संकटों को स्वर्ग में प्राय: अलौकिक आनन्द के लिए किसी भी मूल्य पर पार करना है।

'अब यह आनन्द अक्षय होता तो मोक्ष की इच्छा व्यर्थ होती। पर ऐसा है नहीं। लोक का सताया हुआ मन अलौकिक सुखों का ऐसी क्षिप्रता से भोग करने लगता है कि वह शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। बिना मरे स्वर्ग नहीं देखा जा सकता और तुम जीवित ही नहीं, जीवन्त भी हो।

'यही वह अग्नि है ज्ञान की, बिवेक जिसे हविष् की नहीं, कामनाओं की आहुति की प्रतीक्षा होती है।'

नचिकेता की समग्र इन्द्रियाँ कानों में केन्द्रित थीं। और, वह इन्द्रियगम्य वस्तुओं के भोग को ठुकराने की संकल्प-शक्ति दृढ़ कर रहा था। जीवन में सकल्प और कर्म का मेल किस विधि पूरा उतरे, जैसे अभी इसी की ओर यमराज ने, अग्नि को व्याकृत करते हुए, संकेत किया था। उसने समझ लिया कि ज्ञान के बिना संकल्प और कर्म का तालमेल नहीं बैठ सकता। सत्य संकल्प के दिव्य आलोक में जगे हुए उदात्त स्वर में बोला : वैवस्वत, दो अयाचित वर आपने ने दे डाले, अब एक वर मुझे माँगने दें।'

यमराज वैवस्वत ने विहँस कर सहानुभूति प्रदर्शित की :

'जिज्ञासा के बिना ज्ञान का उन्मेष असम्भव है। मैं प्रसन्न हूं कि नचिकेता ने शीघ्रता में किया हुआ निष्कामता का अपना अपरीक्षित निर्णय बदला। फूल के काँटे के समान प्रत्येक कामना स्पष्ट नहीं होती, फूल की पंखड़ियों में क्षुद्र कीट की भाँति वह छिप कर भी रह लेती है। फिर जैसे गृह में एक दीप जलाने पर कुछ स्थूल वस्तुएँ दीख पड़ती हैं, दो दीप जलाने पर स्थूल के साथ कुछ सूक्ष्म वस्तुएँ भी उजागर होती हैं और इकठ्टे ढेर सारे दीप जलाने पर सम्पूर्ण गृह उद्‌भासित हो उठता है,कुछ वैसी ही स्थिति मन की भी होती है। वह पहले स्थूल वस्तु की ओर आकृष्ट होता है, फिर सूक्ष्म तत्व की ओर, और फिर चरम सत्य की ओर। शिव संकल्प उसे स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाता है और अपरोक्ष अनुभूति चरम सत्य की ओर। अनुभूति के बिना सत्य की प्रतीति असम्भव है। ज्ञान का दीपक जलने पर वस्तु, तत्व और सत्य का विवेक सुस्पष्ट हो जाता है। सफलता नहीं, समग्रता जीवन का लक्ष्य है, यह एक स्तर से दूसरे स्तर पर पहुंच कर ही समझा जा सकता है और समग्रता ही भूमा या ब्रह्म है, जिसकी जिज्ञासा ज्ञान का प्रथम सोपान है।'

नचिकेता ने यमराज की ओर ऐसे देखा जैसे वह यज्ञ की धूमराशि के भीतर से निस्तन्द्र चन्द्रमा देख रहा हो। उसकी हरिणशावक-जैसी आँखों से प्राणों की उज्ज्वलता छलकी पड़ती थी। अन्तर्मुख अवलोकन में ऐसी स्निग्धता और मुग्धता थी जैसे ज्ञान-दान सस्मित ओष्ठों से नहीं, विस्मित निर्मलता में पावन अवगाहन से उद्‌भासित निस्तरंग बुद्धि से होने के कारण ही असाधारण गहन और दुरूह हो! उसके मुग्ध मुकुल से बकुल की-सी गन्ध फूटी :

ज्ञान अपने आपमें पहचान ही तो है, परन्तु किसकी पहचान? किसलिए पहचान?'

यमराज हँसे

'सत्य के लिए आत्मा की पहचान। शान्ति के लिए आत्मा की पहचान। क्योंकि सफल जीवन सम्पूर्ण जीवन है, खण्डित जीवन नहीं। अखण्ड सम्पूर्णता सफलता नहीं, सार्थकता है। जीवन में सफलता इन्द्रिय-भोग्य सुखों में ही खोजी और पाई जाती है। सुखों का जितना अधिक विस्तार होगा, दुःखों की भी उसी अनुपात में वृद्धि होगी। दुखमय ससार में केवल सुख की प्राप्ति असम्भव है। क्यों न हम सुख की जगह सत्य की खोज करें? शान्ति का सन्धान करें?

'सम्पूर्णता भौतिक सुख-दुःख के विवेक से आती है। जीव और परमात्मा की एकता का ज्ञान ही सत्य ज्ञान है। तब जीवन के साथ मरण, ज्ञान के साथ अज्ञान, शुभ के साथ अशुभ-सब आनन्द की तरल तरंगों-जैसे हो जाते हैं। क्योंकि तब यह भलीभांति विदित हो जाता है कि सुख का ही एक रूप दुःख है, हानि का ही एक दूसरा नाम लाभ है, पराजय का ही एक क्षणिक मनोरंजक स्वांग विजय है।'

नचिकेता की मुग्ध स्तिमित दृष्टि सूर्य-चन्द्र की विभा-प्रभा से प्रदीप्त हो उठी। उसने यमराज की ओर पलकों की कोर उठाई तो वहाँ कोई न था। यम जैसे दृष्टि का संयम बन गया था।

पिता उसे गले लगा कर आँसू बरसा रहे थे; 'मुझसे रूठ कर कहाँ चला गया था रे? तू तो मेरी आत्मा है, अपना परमात्मा!'

—०—

'३५

ईश्वर

नरेन मां-बाप का इकलौता है। उस दिन उसकी सातवीं सालगिरह के मौके पर घर में जो तैयारियाँ हुई, बाजे-गाजे, पूजा-आरती, भोजन-भजन, तो गाँववालों की खुशी का ठिकाना न रहा। शहर से चालीस मील की दूरी पर बसी हुई एक पुरानी-सी बस्ती, अधिकांश लोग मूर्ख, गरीब; उन्होंने इस तरह वर्ष-गाँठ मनाते कभी किसी को देखा कहाँ था? गिरोह के गिरोह बादल-दल की तरह उसके आसमान-महल के आस-पास मँडरा रहे थे! नरेन के पिता भी पैसों से खुल कर खेल रहे थे उस दिन, इसलिए सब के दिलों की कलियाँ खिली हुई थीं। ऐसी हँसी खुशी, राग-रंग, धूमधाम, ऐसा गाना-बजाना, ऐसा खाना-खिलाना कि जैसे उजड़े हुए चमन में अचानक हवा के पखों से उड़कर वसन्त ऋतु आ गई हो!

ऊँची जात के हमउम्र लड़कों के बीच नरेन मुसकराता हुआ खड़ा था। चाँद की तरह चमकते हुए चेहरे पर सुनहले घुघराले बालों के गुच्छे, होठों पर हँसी का फव्वारा, आम की फाँक-सी बड़ी-बड़ी अनियारी आँखों में क्रीड़ा-कौतुक की जगमगाती हुई जोत,— दर्शक जैसे अपने प्यासे नयन जुड़ा रहे थे। माताओं के आँचल से दूध छलका पड़ता था, कहती थीं—'कैसा सोना जैसा लड़का है, तीन पुश्त को तार देगा!

(२)

नरेन के पिता एक साथ ही वैद्य, डाक्टर, हकीम,—सब कुछ हैं। मरीजों की मर्जी के हिसाब से वह हर तरह की दवाएं देते हैं। गाँव-देहात में उनकी धाक भी खूब जमी है। कई भाषाओं की वर्णमाला जानते हैं। कभी कोई संस्कृत जानने वाला मिल जाता है तो उससे होमियोपैथी, एलोपैथी या हकीमी की तारीफें करते थकते ही नहीं। उसी प्रकार मौलाना साहबों से 'संसकिरत की किताबों में बताई हुई दवाओं की बातें जोर-जोर से जतलाते हैं। और कुछ भी न जानने वालों के सामने तो एक ही दफा सब कुछ उगल देते हैं। इस तरह पढ़े-बेपढ़े सभी लोगों पर उनका रोब गालिब है। सभी उनकी सफाई के कायल हैं। वर्षों से सब से खूब रुपए ऐंठ रहे हैं। जबान-जबान पर उनका नाम, घर-घर पिंजड़े में उनकी तूती बोल रही है—टें-टें-टें। आलीशान

मकान, नौकर-चाकर, बाग-बगीचे,—परम पिता परमात्मा की कृपा से कोई कमी नहीं,—आसमान की ओर जुड़े हुए हाथ उठा कर यह कहते-कहते स्वयं गद्‌गद हो जाते हैं, अक्सर आँखें छलछला आती हैं।

इधर जब से नरेन गाँव के स्कूल में पढ़ने जाने लगा है, उन्होंने उसके सुनहले-रुपहले भविष्य की शायद सूचियाँ तैयार कर डाली हैं। शाम को उसी के स्कूल के टीचर ट्यूशन पढ़ाने आया करते हैं, उनसे नरेन की पढ़ाई लिखाई की बातें देर-देर तक हुआ करती हैं। नरेन जैसा तेज है—टीचर को किसी भी किस्म का झूठ बोलते हिचकिचाहट नहीं होती—और इस ठके झूठ के एवज में उन्हें गर्म-गर्म कचौड़ियाँ मिल जाती हैं। बेचारे देहाती फटेहाल टीचर अपने ऐसे सौभाग्य पर इतराते भी हैं और नरेन को जी जान से पढ़ाते भी हैं।

एक दिन मास्टर साहब स्कूल में हिसाब का सवाल लिखाने लगे। नरेन ने जो कोट के पॉकेट मे हाथ डाला तो पेंसिल ही नदारद। घर छोड़ आया था, बेचारा सूख गया। कोशिश करने पर भी उठ कर कहने की हिम्मत न हुई। सब लड़के कॉपी पर धड़ाधड़ पेंसिल चला रहे थे। नरेन ने एक पड़ोस के पहचाने लड़के को धीरे से इशारा किया, उसने ओठो में व्यंग की हँसी फँसाए, एक स्लेट की पेंसिल निकाल कर नरेन की हथेली पर रखनी चाही, पर उस ने झटपट हाथ खींच लिया। सच तो यह कि विनोद नरेन से दिल ही दिल जलता था, नरेन की तारीफ मे उसके कलेजे में सौ-सौ सुइयाँ चुभ जाती थीं; पर वह किसी भी तरह नरेन का मुकाबला नहीं कर पाता था। इस छोटी-सी घटना के बाद नरेन अधिक अधीर हो उठा, वह भीतर-बाहर से जैसा गीला-गीला-सा है, शायद आँसुओं में फूट पड़ता पर इसी समय एक नन्हीं सी पेंसिल उसकी खुली कॉपी पर टपक गई! उसने मुड़ कर देखा, एक दुबला पतला साँवला-सा लड़का उसकी हैरानी पर मुसकिरा रहा था। नरेन ने खुशी से पेन्सिल उठा कर जल्द-जल्द हिसाब निकाल लिया। मास्टर की ओर से नरेन को पीठ ठोंक कर शाबाशी मिली और उस अभागे लड़के को गरम-गरम बेंत, क्योंकि क्लास भर में सिर्फ उसी ने पेन्सिल न रहने के सबब हिसाब नहीं बनाया था। लेकिन ठीक मौके पर नरेन को पेन्सिल देकर उसे जो खुशी हुई थी, बेंत की बेदर्द चोट उसमें जरा भी फर्क न ला सकी। वहाँ अकेला नरेन ही उसकी मार खाने की वजह जानता था, कट कर रह गया।

स्कूल से लौटते समय नरेन जबर्दस्ती उस लड़के को भी खींच कर अपने घर ले आया। फिर माँ से सारा हाल बतलाकर नाश्ता माँगा, आने पर दोनों

ने साथ ही साथ खाया। जब लड़का घर जाने लगा तो नरेन की माँ ने प्यार से पुचकारते हुए कहा :—'फिर आना बच्चा !' लड़का 'जी, अच्छा' कह कर चुपचाप चल पड़ा।

जाड़े की सन्ध्या। पूतना राक्षसी-सी बेदर्द हवा शिद्दत की सर्दी से ठिठुर कर जैसे उस लड़के के फटे कुरते में छुप जाना चाहती थी,—पर वह ऐसी बेवफाई करते वक्त एक माँ की नजर पर पर्दा न डाल सकी। नरेन की माँ ने लड़के को जरा रोका और झटपट नरेन की देह का एक अच्छा-सा कपड़ा लाकर हिचकिचाते रहने पर भी पहना दिया। फिर पूछा—"तेरा नाम क्या है बच्चा ?" उसने धीरे से—'ईश्वर' कह दिया।

ईश्वर की अम्माँ इतनी देर तक उसे स्कूल से न लौटा देख कुछ-कुछ घबरा रही थी। इसी समय ईश्वर खुशी से नाचता-नाचता बेसुध-विभोर-सा जब जल्द-जल्द घर में घुसने लगा, चौखटे में जबर्दस्त चोट लगी, हाथ से स्लेट छूट कर टूटते-टूटते बची। अम्माँ ने अचम्भे से देखा—ईश्वर थोड़ा पुराना एक गरम कपड़ा पहने हंसता हुआ उसकी पीठ की तरफ खड़ा है। जरा से सवाल पर एक ही बेफाँस साँस में आज की सारी खुशखबरी सुना दी, और जोर-जोर से जोर देता हुआ कहने लगा कि अब वह फिर कल नरेन के घर जायगा। उसकी अम्मा इस बेपर की उड़ाई खबर से खुश होना तो दूर, स्याह हो गई, भौंचक-सी खड़ी रह गई।

(४)

'भीतर दूसरा कौन गुनगुना रहा है, नरेन ?'

'कोई नहीं पिताजी, यह एक मेरे स्कूल का साथी है—'ईश्वर'! बड़ा अच्छा·········'

"अच्छा,-अच्छा—ईश्वर ? यह कौन-सा नया ईश्वर तेरा साथी बन बैठा? अरे ईश्वर ! इधर तो आ, तेरे बाप का क्या नाम है ?"

ईश्वर के निकलने के पहले नरेन कमरे के बाहर बरामदे में आ गया, आँखों में मुसकिराता हुआ ईश्वर की ओर एकटक निहारने लगा। ईश्वर ने नरेन्द्र के पिताजी से बड़े ही अदब के साथ कहा—"मैं भीखन भंगी का बड़ा बेटा हूं।"

—'भंगी का बेटा ? अबे ईश्वर के बच्चे, तो तुझे यहाँ बुलाया किसने ? मेरे पूजा के कमरे को तूने पाखाना घर समझ रखा है क्या ? आखिर अन्दर कैसे

पिल पड़ा ? और नरेन को छू-छू कर खेलता है तो ? बस, सत्यनाश हो गया। तभी मै इस कमीने स्कूल में नरेन्द्र को नहीं भेज रहा था ! जहाँ ब्राह्मण-चमार, भाट-भाँड़, तेली-तमोली, डोम-मेहतर सब एक ही घाट का पानी पीते हों; जहाँ सब धान बाईस पसेरी हो, वहाँ और होगा भी क्या ?

'अरे सुअर, अब भी टला नहीं जाता ? खबरदार, अगर इस दरवाजे पर फिर कभी कदम रक्खा ! और यह ? यह नरेन ही क्या कम पाजी है, अब सब से दोस्ती खतम हो चुकी तो भंगी-मेहतर का साथ किया है। मैं क्या जानता था कि सोने की खान से लोहा निकलेगा, कबीर का बेटा कमाल पैदा होगा ? बरखुरदार, मुझे तुझ पर कितना भरोसा था, पर आह ! तू तो गाँधी की राह चल निकला ? गाज गिरे उस अभागे कोइरी जगलाल महतो पर—जिसने इन सब कमीने भंगी-मोचियों को 'हरिजन-हरिजन' कह कर सर चढ़ा रक्खा है ! जिनकी छाया छने से गया-गंगा करने पर भी पाप नहीं धुल पाता, उन्हें ऊंची कौमों के लड़कों के साथ स्कूल में पढ़वाने लगा नालायक ! पर मैं ? अब मै क्या करूं ?"—यों भौंकते-भौंकते नरेन्द्र के पिता का स्वर पंचम से सप्तम पर पहुंच गया। सुनते ही पड़ोसी बूढ़ें दमड़ी मिश्र जी हाँफते हुए आ धमके :—
"आँ, क्या हुआ बैद बाबू ? आँ ?"

"कुछ नहीं, आइए मिश्र जी, यही, नरेन्द्र के बारे में कह रहा था, अब यह कुछ बच्चा तो नहीं है ! आठ-नौ साल की उम्र हुई। इधर घर की मालकिन का जैसा जोर है, देखता हूं,—अगले साल तक इसकी शादी कहीं न कहीं करनी ही होगी। तिस पर देखिए न, अब सब हुआ तो भगी-मेहतर के गंदे गधों के साथ रेंकने का शौक चर्राया है इसे भी !

अरे, कोई है ? कान पकड़ कर निकाल तो पहले उस उल्लू के पठ्ठे को ! और, यह क्या,—यह क्या ? नरेन, तू उसका हाथ पकड़ रहा है ? ओह ! अब आखिर मुझे भी जनेऊ बदलना ही पड़ा ! तो यह ले,—उल्लू, सुअर, पाजी, गधा कहीं का !'—गरजते हुए वैद जी नरेन पर बरस पड़े। यों कान मसल कर कस-कस कर चांटे जमाए कि फूल-सा, धुनी रुई-सा सुन्दर सुकुमार नरेन धम्म से फर्श पर गिर पड़ा। और काठ-पत्थर की तरह चुपचाप खड़े ईश्वर को तो उन्हों ने कई घूंसे, कई मुक्के लगा कर, लतिया कर, धकेल कर बाहर निकाल ही दिया। दमड़ी मिश्र बड़ी तत्परता से कमरा धुलवाने लगे।

नौकर ने गोद में उठा कर नरेन को अन्दर माँ के पास पहुंचा दिया। नरेन की सूखी आँखें एकाएक भादों की नदी की भाँति उमड़ पड़ीं !

(५)

कई रोज बीत गए। नरेन को स्कूल जाने से रोक दिया गया। नीच जात के लड़कों के साथ बोलने-मिलने की सख्त मनाही कर दी गई। पर सच तो यह कि उस एक ही घटना, एक ही बार की मार के बाद नरेन खुद-ब-खुद बदल गया। कभी माँ से पूछता—"माँ, भंगी किसे कहते हैं—गरीब को ? तब तो इस गांव में सब भंगी मेहतर ही हैं ? पिता जी कहते थे कि उनके साथ खेलने से पाप होता है !—तो यह पाप क्या होता है माँ ?"

कभी-कभी रात को सपने में बड़बड़ाता—"ईश्वर ! मुझे तुम्हारे घर का रास्ता मालुम नहीं है, नहीं तो मैं जरूर आता !"

X X X

एक दिन अचानक नरेन को बुखार हो गया। माँ ने जो वैद्य जी से कहा तो वह फट पड़े उस पर,—"मैं उसकी सब शरारत समझता हूं, अभी 'इसवरवा' या गाँव के किसी दूसरे सुअर के साथ खेलने की छूट दे दूं तो यह बुखार तुरत उतर जाएगा ! पर मैं तो गधा नहीं हूं, मुझे ऐसे नालायक बेटे से बिना बेटे का रहना ज्यादा पसंद है ! और......"

नरेन की माँ अब गुस्सा न संभाल सकीं; होंठ काटती हुई कहने लगीं : "आप जाइए यहाँ से ! ईश्वर आज ही मेरे घर आएगा, नरेन उसी के साथ खेलेगा, कल से फिर स्कूल जाएगा, देखती हूं, आप क्या कर लेते हैं उसका ?' चार साल का ब्राह्मण-बच्चा अछूत बच्चे के साथ खेलने से चमार हो जायगा और अभी जो दो रुपए लेकर उसका बाप बुलाने आ जाए, तो खुद पहुंच जाएं उसके घर ! अरे नरेन, इधर तो आ, तू ईश्वर के घर जायगा या उसे ही यहाँ बुलवा दूं ?'"

"ओह हो ! तुम मुझे धमकाती हो ? अब यहाँ 'इसवरवा' आ जाए तो मैं उसकी खाल खिचवा लूं। क्या तुम मुझे रुपया चरता गधा समझती हो ?"

—यों बड़बडाते-बड़बड़ाते वैद्य जी को दवाखाने जाने पर मालूम हुआ कि कई आदमी फीस और सवारी लेकर उन्हें बुलाने आए हुए हैं। रुपए देखते ही वैद्य जी का गुस्सा काफूर हो गया। 'अब मरीजों के घर जाना ही होगा—' सोचकर नरेन के लिए चार गोलियाँ भिजवा दीं, खुद बाहर चले गए।

इस खुशखबरी से नरेन आज कई रोज बाद खुब खुलकर हंसा । फिर माँ का तनिक इशारा पाते ही ईश्वर के घर की ओर दौड़ पड़ा । उसे सचमुच ही ईश्वर के घर का पता न था । तीन-चार सौ घरों का गाँव, फिर अछूतों की झुग्गियाँ तो गाँव से तनिक हट कर, एकदम दक्खिन तरफ, खेतों के बीच बनी थीं । बुखार ही जैसे ईश्वर के घर की ओर लिए जा रहा था । पूछते-पूछते पहुंच गया ।

तब ईश्वर तेल और नमक के साथ मक्की की मोटी रोटी खा रहा था । उसकी अम्मा पूछ रही थी कि अब वह नरेन के घर क्यों नहीं जाता ! कई रोज हो गए ! फिर समझाने लगी थी कि अब वह भूल कर भी ऐसी गलती न करेगा ! नरेन बाँमन का बेटा है, उसके बाप वैद भी हैं और दौलतमंद भी । उनके जोड़-तोड़ का कोई दूसरा इस इलाके में नहीं है । नरेन की माँ ही ऐसी अच्छी हैं कि उन्होंने उसे वहाँ जाने दिया । वरना उसके बाप देख पाते तो जीते निगल जाते ! उसकी किस्मत ऐसी नहीं कि वह नरेन का साथ कर सके !

ठीक उसी समय नरेन ईश्वर के आँगन में दाखिल हो गया । और इतना ही नहीं, उसकी थाली में से रोटी का एक टुकड़ा उठाकर खाने भी लगा । ईश्वर की अम्मा को काटो तो एक बूंद खून न गिरे ! तिसपर नरेन हँसकर पूछ भी बैठा—"मेरे खाने से तुम नाराज तो नहीं हो रहीं ?" ईश्वर ने अपनी अम्मा को बतलाया कि—यही तो नरेन है ! वह उसे पहले से ही अच्छी तरह पहचानती थी । झटपट दरवाजा बंद कर नरेन को पूछ-पूछ कर खिलाने लगी । नरेन ने घर से कहीं ज्यादा खाकर पानी पी लिया । फिर ईश्वर का हाथ पकड़कर पूछने लगा—'मेरे घर कब आओगे ?'

ईश्वर ने जल्दी से रूखा सा जवाब दे दिया—'अब तुम्हारे घर कभी न जाऊंगा !'

अम्माँ डाँटने लगी-"जाएगा क्यों नहीं ? तेरे घर पर तेरे मालिक नरेन बाबु आए हैं और तू उनके घर जाएगा ही नहीं ? तू ही बड़ा नवाब का नाती है ?"

नरेन ने ईश्वर के कान में कहा—'मेरा कोई कसूर न था ! मुझे माफ कर देना ।" सुनकर ईश्वर की आँखें छलछला आईं ।

उसने दौड़ कर नरेन को एकदम पकड़ लेना चाहा, पर न जाने क्यों उसके पैर बंध गए !

X X X

घर लौटने पर नरेन की आँखें लाल मालूम पड़ती थीं। देह तवे की तरह तप रही थी। अब उसकी माँ अपनी बेवकूफी पर पछताने लगीं कि नरेन को आगे ही उतना बुखार था,—उसने नाहक उसे उतनी दूर—ईश्वर के घर जाने क्यों कह दिया था ! पर अब तो भूल हो चुकी थी। अफसोस करती रह गईं।

कई दिन बीत गए, वैद्य जी महाराज नहीं लौटे। नरेन दो-तीन रोज तक खाट पर पड़ा रहा। माँ बहुत चिन्तित और उदास रहने लगीं। बार-बार बाहर आदमी भेज-भेज कर पता लगातीं कि अभी तक वैद्य जी लौटे या नहीं ! वैद्य जी पर उसे इतना गुस्सा आ रहा था कि यदि वह उसी क्षण वहाँ आ जाते तो वह उन्हें भीगी बिल्ली बना कर छोड़ती,—भीगी बिल्ली !

पर एकाएक नरेन खाट से उठ बैठा। खाना माँगने लगा। कभी जरा रोता और कभी खूब जोर-जोर से हँसता। कभी ईश्वर के घर जाने के लिए जिद करता। बेचारी नरेन की माँ बावरी हो रही थीं—महरी से कह दिया : "जाओ, जैसे भी हो, ईश्वर को यहाँ ले आओ।"

नरेन खुशी से नाचने लगा। माँ भी हँस पड़ीं। ठीक उसी समय वैद्य जी महाराज अन्दर आ गए। नरेन की हालत देखकर अकचका गए, उसे अब 'टाइफाइड' हो चुका था। अपनी पत्नी, नरेन और ईश्वर के नाम ले-ले कर आकाश-पाताल एक करने लगे। जो बोलने लगे—तो दवा देने तक की सुध जाती रही। नरेन खाट पर छटपट-छटपट करने लगा। माँ जोर-जोर से रोने लगीं। महरी ने लौटकर धीरे से नरेन की अम्माँ को बताया कि ईश्वर वैद बाबू की आवाज सुनकर दरवाजे पर से भाग गया।

नरेन एक बार फिर होश में आकर हँसा। तनिक करवट बदलते हुए मर्राई आवाज में बोला—

"माँ, मुझे ईश्वर के घर का रास्ता मालूम हो गया है। मुझे ही वहाँ जाने दो। अब वह यहाँ नहीं आ सकता। हमेशा-हमेशा के लिए तुम्हारे घर से ईश्वर रूठ गया !"

—०—

'३५

बकरे की माँ

देव ने दानव से कहा : तू 'तू' है !

और, समीप ही खड़ा मानव चिल्ला उठा : फिर मैं ?

देव ने विहँस कर मानव को बतलाया : मैं' !

तबसे आज तक सारे संसार में दानव-मानव के बीच तू-तू मैं-मैं जारी है और देव अब भी कौतुक से यह तमाशा देखता रहता है, चुपचाप, मौन साधे !

आज बाबू जगतकिशोर प्रसाद नारायण सिंहजू देव का दरबार कई रोज बाद फिर गर्म हुआ था। भाँति-भाँति की खोपड़ियाँ इकट्ठी थीं; टकरा रही थीं। मैं भी वहाँ एक कोने में बैठा था, मगर-उस 'टग ऑफ वार' में शरीक न था।

हालाँकि तने रस्से के एकाएक टूट जाने पर भी मैं उतने जोर से न गिरता, मुझ वैसी करारी चोट न लगती, जैसी लगी। मेरा खयाल है, सिर्फ सेंटिमेंटल कहकर आप मेरा दर्द दूना न करेंगे। खयाल नहीं तो इसे इल्तिजा ही समझ लीजिए।

सबसे पहले मै आपकी वह गलतफहमी दूर कर लूं, जो 'जमींदार' शब्द सुनने के बाद आपको हुई होगी, एक तोंदवाला, थोथा, आलसी आदमी, 'काला अच्छर भैंस बराबर' के—जोड़-तोड़ की अक्ल रखने वाला। नहीं, नहीं, जगत बाबू वैसे नहीं। वह न लम्बे हैं, न नाटे; न काले हैं, न गोरे। और फिर सबसे बड़ी बात यह कि वह पटना के मैट्रिकुलेट हैं, उस पटना के, जिसके बारे में सात-सात बार फेल करने वाले तेज लड़के कहा करते हैं कि पटना का मैट्रिक और कैंब्रिजका बी० ए० बराबर। नजीर पेश करते हैं : 'सर्चलाइट' के एडिटर मुरली बाबू को। वह मैट्रिक फेल हैं।

अच्छा, आप कर्मनाशा के किनारे कभी टहलने जाते हैं, सबेरे–सबेरे ? वहाँ आपको चुस्त पायजामे पर चौड़े कालर की कमीज और रंगीन, कामदार स्लीपर पहने, हाथ में हाथी दाँत की मूठ लगी छड़ी लिए कोई भला आदमी दीख पड़ा है ?—कई-कई लोगों के साथ बात बात पर बादल की तरह गड़बड़ा कर हँसता, एक-एक सेकेंड पर सिगरेट की कश-पर-कश खींचता, बिच्छूके डंकको

तरह काली-घनी मूँछों के छोर बनाए, बालों पर केशराज की आधी शीशी की चमक और खुशबू लादे हुए? बस वही तो हैं गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक, सनातनधर्म-पताका, जमींदार जगतकिशोरप्रतापप्रतापदनारायण सिंहजूदेव, आनरेरी मैजिस्ट्रेट।

मैं उन्हीं का आदमी हूं। रोज सुबह शाम बगैर बुलाए दरबार में हाजिर होता हूँ। तबीयत के कतई खिलाफ अपने खुद के खयालात का खून करता हूं, क्योंकि लोग कहते हैं, जमींदार साहब की मुझ पर बड़ी ठंडी निगाह रहती है। रहती भी होगी, क्योंकि उनके आसपास के लोगों में सिर्फ मैं ही एक बेकार एम० ए० हूँ। गरज कि थर्ड क्लास आ जाने के कारण मुझे प्रोफेसरी नहीं मिली और मैंने मिडल स्कूल की मास्टरी नहीं मंजूर की।

एक रोज दरबार में साहित्यिक प्रसङ्ग छिड़ा हुआ था कि कविता में किसने ज्यादा चोरी की है,—तुलसीदास ने या रवीन्द्रनाथ ने? क्योंकि जमींदार साहब को संस्कृत पढ़ाते समय उनके फटीचर टीचर ने कालिदास की शकुन्तला की बात चलाकर यह अच्छी तरह समझा दिया था कि वह उनकी मौलिक रचना नहीं है, उन्होंने 'पद्मपुराण' की सुललित कल्पना को जरा तर्ज बदल कर 'प्रोज पोयट्री' कर दिया है। और तबसे उनके तर दिमाग में यह लोहे की-सी लकीर खिंच गई थी कि बिना चोरी किए कोई महाकवि नहीं हो सकता। इस प्रसंग में कुछ ऐसा रंग आ गया था कि उस दिन मुझे भी मौन भंग कर देना पड़ा। मैंने अपनी जगह से जरा आगे सरककर कहा—'हुजुर! आपका खयाल निहायत दुरुस्त है, अगर महर्षि वाल्मीकि पहले चोर-डाकू न होते तो पीछे आदिकवि कहलाने का उनका हौसला भी पस्त हो जाता!'

और, वह मेरे अकाट्य प्रमाण पर ऐसे लट्टू हुए कि उसी रोज से मुझे खाने-पहनने भर मिलने लगा। आखिर मैंने रवीन्द्रनाथ का कत्ल कर तुलसीदास की जान बचाई। मेरी दलील थी कि तुलसीदास ने सिर्फ संस्कृत से चोरी की है मगर रवीन्द्रनाथ ने तो संसार की सभी भाषाओं के भरे खजानों के ताले तोड़े हैं।

और, आज वही दानव-मानव वाला प्रसंग छिड़ा था। मैं अभी उन्हें तू-तू मैं-मैं के बारे में बता ही रहा था कि एक मौलाना तशरीफ लाए। वह थोड़ी देर तक गिने चुने अल्फाज में मेरी तारीफ कर जमींदार साहब की तरफ मुखातिब हुए। मौलाना साहब जमींदार साहब के ऊंचे खुले खयालात के जाहिर कद्रदां थे। बातों का दरिया उमड़ पड़ा। सामने दीवार पर एक चायनिज तसवीर टंगी थी: एक नौजवान, हसीन औरत, छाती खुली हुई, आँखें जैसे अपनी ही

खूबसूरती के नशे से मतवाली, पैरों के पास झर-झर झरता झरना, जैसे दो लाल कमल अभी-अभी बीच सरोवर में खिल आए हों !

जमींदार साहब को वैसी तसवीरें बहुत भाती थीं। मौलाना साहब अपनी तुर्की टोपी उतारकर तसबीर की तारीफों के पुल बाँधने लगे। मेरा जी जल रहा था, घू-घू करता हुआ। मगर इसलिए नहीं कि मुझे नंगी खूबसूरती भाती न थी या खूबसूरती की तारीफें करने वाले का नंगापन मेरे कलेजे को साल रहा था। बल्कि इसलिए कि ऐसे ही चापलूसों के चलते उनकी रुचि नीच हो गई थी। और उन्हीं की क्यों ? दुनिया के सभी नामीगिरामी घरानों की तबाही की वजह ये ऐसे चापलूस ही तो होते हैं, उन बेचारों को मकड़ी के जाले में फाँसकर अपना उल्लू सीधा करने वाले !

जमींदार साहब बड़े सीधे दिमाग के रईस थे। यों अनजान आदमी उन्हें सनकी समझ सकता था : जरा-जरा-सी बात पर खाने-पीने की सुध-बुध भूल जाते थे। आज भी लगभग दो बजने को था, मगर मौलाना की बला टल ही नहीं रही थी। और वे बुरी तरह उसीकी चिकनी चुपड़ी बातों में उलझे हुए थे। नौकर खाने की याद दिलाकर कई बार लौट चुका था। कि इतने में दीवान साहब ने आकर खबर की : बन्दूकें साफ हो चुकी हैं : एकदफा हुजूर खुद मुलाहजा फरमाएँ। फिर उन्हें तुरन्त कचेहरी ले जाना होगा। आज तीस दिसम्बर, कचेहरी में लाइसेन्स नया कराने की आखिरी तारीख है।

जमींदार साहब जैसे सपने से जागे। आसमान से जमीन पर लुढ़क आए। उन्होंने चौंक कर कहा : हाँ हिदायत तो ऐसी ही है, हर साल लाइसेन्स नया करवाना पड़ता है, फिर इस दफा तो······, अच्छा मैं खुद चलकर देख लेता हूं।

···और, उनके पीछे मौलाना, दीवान, और कई-कई नौकर-चाकर हो लिए। सब के पीछे, महज फर्जअदायगी, तकल्लुफी वगैरह का खयाल करता हुआ, बुजुर्गों की झख मारने वाली मुहर्रमी सूरत बनाए हुए मै चल रहा था।

जमींदार साहब एक-एक बन्दूक की दास्तान बखानने लगे, उसकी कितनी कीमत है, वह कब खरीदी गई, वह कितनी दूर तक निशाने पर उतरती हैं, वगैरह, वगैरह।

मौलाना साहब तअज्जुब की निगाह से सबको देखते और खोद-खोद कर अजीब-अजीब सवाल पूछते जाते थे।

जमींदार साहब ने हंसी-हंसी में एक बन्दूक में शेर मारने वाला टोंटा भर कर मौलाना को डराया : दाग दूं बड़े मियाँ ?

मौलाना साहब की दाढ़ी शरद ऋतु की चाँदी की तरह, उबले दूध के झाग की तरह, इस्तिरी किए हुए चिकन की तरह सुफेद थी। आँखों में सुरमा लगा था जो कि उजली पलकों की साड़ी के काले रेशमी किनारे की छटा छहरा रहा था। उन्होंने आँसू ढुलकाते हुए, आसमान की ओर हाथ उठाकर अर्ज किया : हुजूर, मेरा कुसूर—?

और, जमींदार साहब ने अपनी हंसी की गडगड़ाहट से भूकम्प क्या, आकाश-कम्पका आनन्द ला दिया, सीधे मैदान की तरफ बन्दूक की नली घुमाते हुए, गोली की पुरजोर आवाज से सब्जी का दिल दहलाते हुए।

कुछ फासले पर एक बकरी गोलीका निशाना बनकर पैर पटकने लगी। दूब की घनी हरियाली पर खूनकी गाढ़ी ललाई, फिर सूरज की तरुण-अरुण किरणें, ——सुहावना दृश्य था !

बकरी जितने जोरों से चारों पैर पटक रही थी, लगभग उतनी ही तेजी से मौलाना भी जैसे एकाएक नाच गए। क्षणभर बाद, भीतर-बाहर के हर पाकेट की तलाशी लेनेपर, सबसे नीचे की गुपचुप जेब से, उन्होने एक छोटी सी छुरी निकाली, तब कहीं जाहिर हुआ कि उन्हें गोली नहीं लगी थी, उसका खौफ भी उस कुर्ते में समाया हुआ न था बल्कि······

उन्होंने छुरी सीधी करते-करते बड़े अदब से कहा : वल्लाह ! क्या कहने हैं हुजूर के निशाने के ! गोली तो चलाई तनहाई में और छटपटाने लगी वह गुस्ताख ! हें......हें...अब अगर हुक्म हो तो मैं जरा उसकी गर्दन से छुरी छुआ आऊं। हुजूर तो जानते ही हैं, हें-हें, काफिर को खुद हलाल किए बगैर मैं उसके गोश्त का हकदार कैसे हूंगा ?

जमींदार साहब वैष्णव जीव थे। अकस्मात् इस अकल्पित हत्या से उदासे से बंगले पर लौट गए। और, मौलाना ने मोटर-साइकिल की धुआँती गति से दौड़कर मरी बकरी की ऐंठी गर्दन पर सीधी छुरी फेर दी।

दयासागर मिसिर घर का रसोइया था। उसे यह बात बहुत बुरी लगी।

उसने मौलाना साहब को खरी-खोटी सुनाई कि एक तो इस मठजुग में बाँमनों का हक यों ही हर जगह मारा जा रहा है, तिसपर मौलाना-जैसे दाल-भात में मूसलचन्दों के मारे और नाकोंदम है !

वह गरीब बाँमन है, इस वक्त सेर दो सेर मांस ही पा जाता, मगर अब मियाँ की छुरी फिरने के बाद बेचारे का वह पुश्तैनी हक भी गया।

इधर बातों ही बातों में 'तू-तू' की भरमार हो गई और उधर किधर से भी बकरी का बच्चा अपनी माँ को ढूंढता हुआ लाश के पास आकर बड़े ही मर्मभेदी स्वर में 'मैं-मै' पुकारने लगा।

—०—

'४०

बागमती के किनारे

मानव जिसे भूल जाने का बार-बार प्रयत्न करता है, वह उसे दूसरे प्रकार से बार-बार याद ही करता है,—यह उसे कौन बताए ?

इसीलिए, जब वह अपनी प्यास अपने ही प्राणों के पास छुपाकर रखता है और फिर भी वह कभी न कभी प्रकट हो जाती है, या फिर प्राणों के साथ बाहर निकल आती है, उस समय संसार को व्यर्थ ही आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसे हो गया ? कंचन की खान में काँच कैसे पैदा हो गया ?

हाँ, सचमुच ही वह अत्यन्त उच्च कुल से थे। नाम रामचन्द्र था। रूप भी नाम के अनुरूप ही श्याम। खूब हृष्ट-पुष्ट। नाटे, मझोले। नाक लम्बी, ऊंची। मूछें कड़ी-कड़ी। चेहरा भरा। तुलसीकृत रामायण और शुकसागर से अधिक अध्ययन का अवसर नहीं मिला। मगर जो भी पढ़ा, जीवन में हमेशा उसी के अनुसार आचरण किया। जीविका अत्यन्त साधारण, मुश्किल से एकाध बिघा खेत। लेकिन इस विषय की स्वप्न में भी चिन्ता नहीं। पोशाक एक धोती, जुलाहे के करघे की बुनी, मोटी, मगर कभी गन्दी नहीं। कुर्त्ता एक ही, लेकिन पैवन्द लगाया हुआ नहीं। वार्तालाप का विषय केवल चौपाइयों के गूढ़ार्थ या भगवान श्रीरामचन्द्र की अलौकिक कथाएं। भक्त और भगवान की कहानियाँ कहते-सुनते आँखें भर-भर आतीं; वाणी गद्‌गद हो जाती। किसी और हास-परिहास, चुगली-निन्दा, ताश-शतरंज में कभी भी मन नहीं लगता। वैसे स्थानों में पलभर भी नहीं टिकते।

ऐसे थे वह रामचन्द्र, जिन्हें सारा गाँव आदर की दृष्टि से देखता था। उम्र तीस-पैंतीस के पार पहुंच गई, मगर उनकी शादी न हुई। किसी लड़कीवाले ने उन-जैसे निर्धन-निर्गुण युवक को लड़की देने का साहस नहीं किया।

निश्चय ही जीवन के एकाकीपन से ऊबकर वह कभी-कभी ब्याह का अभाव महसूस करने लगते, लेकिन इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वह कामुक थे,—काम-वासना से विकल रहते थे। नहीं, पराई 'नार' की ओर उन्होंने कभी कुदृष्टि नहीं डाली। यौवन की दोपहरी में भी कुमारियों-किशोरियों को देखकर उनका दिल नहीं धड़का; प्राण पुलकित नहीं हुए। हाँ, वह इतना जरूर सोचते थे कि काश उनका भी ब्याह हुआ होता !

जब दो एक बार गाँव के बदमाश लड़कों ने उनसे मजाक किया कि उन-लोगों ने उन्हें जगनी के साथ एकान्त में हँस-हँसकर बातें करते देखा है तो वह फूट-फूटकर रोने लगे, क्योंकि वह कदाचित् अन्य सभी प्रकार के कलंक बर्दाश्त कर सकते थे, मगर इन चरित्र-सम्बन्धी त्रुटियों को तो किसी भी प्रकार नहीं। कोई कितना भी बड़ा विद्वान, गुणी या पहलवान क्यों न होता, उनके लिए वह तब तक श्रद्धेय नहीं हो सकता था, जब तक उसके चरित्र की निर्मलता के विषय में उन्हें पूरा-पूरा विश्वास न हो जाता ! क्योंकि उनके विचार से संसार की सर्व-श्रेष्ठ विद्या, सर्व श्रेष्ठ कला एकमात्र चरित्र था, जिसका अभाव किसी भी दशा में उनके लिए क्षम्य न था। लेकिन ऐसा कहते हुए वह प्रकारान्तर से अपनी ही प्रशंसा करते थे—ऐसी बात नहीं। क्योंकि उनका स्वभाव इतना विनयी, इतना स्वच्छ और सरल था कि उनके विषय में ऐसी कल्पना करना भी पाप मालूम पड़ता है !

ऐसे थे वह रामचन्द्र, जिनसे किसी ने विवाह नहीं किया। और, जिन्हें केवल एक ही चिन्ता कभी कभी सताती थी कि किसी ने उनसे विवाह क्यों नहीं किया !

उनके लिए किसी का भी दरवाजा बन्द न रहता। वह सीधे किसी के भी आँगन में आते-जाते। किसी की भी लड़की या पतोहू उनसे कुछ बोलकर गर्व का अनुभव करती। फिर भी, साठ से ज्यादा या सोलह से कम—किसी भी उम्र वाले उनपर रत्तीभर भी सन्देह नहीं करते। सन्देह,—इस शब्द ने तो मानो उनके लिए अपना अर्थ ही खो दिया था !

उन्होंने जाने किस तरह तुलसीदास के 'रामशलाका-प्रश्न' से शकुन विचारना सीख लिया था ! किसी के आने-जाने, खोई चीज के फिर से मिलने, आगे की बात बताने में, वह सिद्धहस्त-से हो गए थे।—यों तो वह बहुत आग्रह करने पर भी भरसक किसी के घर शकुन विचारने नहीं जाते थे, लेकिन अगर कभी विचार कर देते तो वह अक्सर सच ही हो जाता था। इस कारण स्त्री-लोक में उनका सम्मान और भी बढ़ गया था। वह सब कोई न कोई प्रश्न प्रायः उनसे पूछती रहतीं। और, चलते समय जब कोई विशेष परिहास न सूझता तो उनसे पूछ बैठतीं कि खैर, और सब तो ठीक ही बताया, लेकिन अब यह बताइए कि आपका ब्याह कब होगा ? और, वह हँसकर झटपट वहाँ से हट जातीं। मगर घर आते आते उनका चेहरा गम्भीर हो उठता। वह सोचने लगते कि क्या सचमुच ही उनका ब्याह कभी न होगा !

ऐसे थे वह रामचन्द्र, जिन्होंने जब एक रोज सुना कि पांड़ेपुरा गाँव के, उन्हीं के समवयस्क कुंवारे, धरधूरन पाँड़े, पलामू जिले से, गरीब बाँभनी कह कर एक चुहिया-सी मलाहिन ब्याह लाए हैं तो घृणा से नाक-भौं सिकोड़ने लगे कि आखिर जात देकर शादी करने से तो क्वाँरा मर जाना ही अच्छा है! ब्याह हो तो अपनी जात में, उच्च कुल की, सदाचारिणी से, नहीं तो अनपढ़ हो या लिखी-पढ़ी, भठिहारिनों की कहाँ कमी है!—गली-गली आँचल फहराती, आँखें मटकाती चलती हैं, जिन पर कुछ दूर से थूकना भी उन्हें मंजूर नहीं।

ऐसे थे वह रामचन्द्र, और फिर भी उनका ब्याह न हुआ। बिलायती चर्बी वाले साबुन से दामन के धब्बे अंधेरे-अँधेरे धोने वाले समाज ने उन्हें विवाह का सुख नहीं प्राप्त करने दिया। पन्द्रह रुपयों की तनख्वाह पर पन्द्रह ही घंटे दफ्तर में कलम घिसनेवाले, पच्चीस की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते हार्टफेल होने या थाइसिस से मरने वाले इन्ट्रेंस पास युवक के मुकाबले उन्हें नादान और निकम्मा समझने वाले समाज ने, उनके जीवन का एक अदना-सा अरमान भी पूरा न होने दिया। उनके सदाचार की कोई कीमत नहीं आँकी। उनकी सरलता का भी महत्त्व न किसी ने समझा।

ऐसे थे वह रामचन्द्र कि तो भी उस पतित समाज से बदला लेने की भावना उनके उदार हृदय में कभी नहीं उदित हुई। शायद शहरी ढंग से शिक्षित न होने के कारण उन्हें प्रतिहिंसा पर विश्वास ही न था।

इसी प्रकार दिन बीतते गए, रातें आती गईं। रामायण और शुक-सागर का पारायण करते करते अवस्था पचास पार कर गई। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया कि अब क्रूर समाज उन्हें लड़की नहीं दे सकता। अब उनके माथे पर मौर नहीं चढ़ सकता। वह अब दूल्हा बनकर पालकी में नहीं बैठ सकते। और, आह! उनका जीवन कोरा ही बीत गया।...

उनका स्वास्थ्य, जो अभी कल तक कसे बदन की लाली में फूटा पड़ता था, ढीला पड़ने लगा; पीला पड़ने लगा। रामायण के प्रत्येक पृष्ठ में, पृष्ठ की प्रत्येक पंक्ति में, पंक्ति के प्रत्येक अक्षर में उन्हें केवल यही बात लिखी दिखने लगी कि अब उनका ब्याह नहीं हो सकता; वह कुंवारे ही मर जाएँगे, उनका पुरुषार्थ व्यर्थ हो गया।...

वह कभी-कभी सोचते कि कैसे पति-पत्नी में झगड़ा-टंटा हुआ करता है भला! सुन्दरी नारी भी उपेक्षित हो जाती है! गुणवती स्त्री पर भी पुरुष अपने को न्योछावर नहीं कर पाता! उनका तो ब्याह ही न हुआ, नहीं तो

दुनिया देख लेती कि किस प्रकार वह अपनी काली-कलूटी, कानी-कूबड़ी, जड़-जपाट स्त्री को भी धर्मपत्नी समझते । 'देवी' सम्बोधन करते ! उसे रामायण और शुकसागर बाँच-बाँचकर सुनाते ! भगवान जो भी साग-सत्तू देते वह उससे ही बाँट-चोंट कर खाते ! कम से कम एक पुत्र उत्पन्न हो जाता, वह पितृऋण से मुक्त हो जाते ! भगवान उनके कर्म तथा आचरण के अनुसार उन्हें अपने श्रीचरणों में स्थान दे देते, और ··

पहले तीन तीन, चार-चार साल के कितने-कितने बच्चे उन्हें घेरे ही रहते थे । वह सबको अक्षत, गुड़ और तुलसी की पत्तियाँ मिला-मिलाकर खिलाते थे, भगवान का प्रसाद कह कहकर । जो लड़के घर में अच्छी चीजें सौ-सौ खुशामदों के बाद भी नहीं खाते थे, वही उनसे जबर्दस्ती अक्षत और गुड़ छीन-छीनकर खाते थे । ऐसे थे वह रामचन्द्र, कि उनमें से दो को कंधों पर, एक को माथे पर, दो को बगल-बगल में, एक ही साथ लिए-लिए, संजीवनी बूटीवाला पहाड़ उठाए हुए हनूमानजी की तरह गली-गली में घूमते थे । लेकिन अब वही उन लड़कों को या तो जल्दी से प्रसाद देकर भगा देते थे या फिर जिद करने पर कान उमेठ कर दो-दो चाँटे जड़ देते थे फिर पास बैठाकर कभी-कभी एक-एक से पूछते भी थे :—

बोल सोहन ! तेरी शादी कब होगी ?'

बता; लल्लू ! तू कितनी बडी कनियाँ से ब्याह करेगा ?

'कह, बच्चू ! तेरा ब्याह किस तरफ होगा ?'

और, जवाब में वह बच्चे कहकहे लगाते । तब उन्हें पुचकार-पुचकार कर वह हर एक सवाल का जवाब स्वयं सिखलाते, फिर दुहरा-तिहरा कर उनसे कहलवाते, तब कहीं उन्हें गोद में उठाते थे ।

और, इस तरह भी वह बहुत दिनों तक अपना मनोरंजन न कर सके । अनेक यत्नों के बाद भी वह ब्याह के सपने देखना न भूल पाए । दिनप्रतिदिन उनका शरीर शिथिल से शिथिलतर होने लगा । और, वही रामचन्द्र अब दशरथ-सरीखे दिखने लगे ।

भादों का महीना था । बागमती नदी में कई दिनों से बाढ़ उमड़ी हुई थी । एक रोज सन्ध्या समय वह एक पेड़ का तना पकड़कर खड़े खड़े नदी की ढलती जवानी, उतरती बाढ़ देख रहे थे । पास ही कौओं की मजलिस बैठी थी । कभी एक कौआ आँय-बाँय-साँयं बककर चुप बैठ जाता, तो कभी दूसरा शान बान.शान से भाषण करता, और कभी कभी तो सबके सब सम्मिलित

स्वर से जैसे 'इनक्लाब जिंदाबाद' बोल उठते। वह यह सब देखा किए, सुना किए। लेकिन इससे न दिल बदला, न मन बहला।

ऐसे थे वह रामचन्द्र कि किसी पर भी अपनी तबीयत का हाल बगैर खोले —अपने मर्म के दुःख को बिना जाहिर किए उन्होंने जिंदगी की आखिरी मंजिल की तरफ चुपचाप कदम बढ़ा दिए।

किनारे पर बैठकर भगवान का ध्यान किया, बहुत देर तक उदास, चिन्ता-मग्न बैठे रहे। लगभग घड़ी भर रात बीत गई। सब ओर घनघोर घटा छा गई। जब एकाएक आँखें खुलीं, उन्होंने देखा, उस घनीभूत अन्धकार में भी पुञ्जीभूत प्रकाश-सा, रोशनी का गुब्बारा-सा कुछ उनके पैरों के पास पानी पर तिर रहा है! वह घबराए। चौंके। चिल्ला उठे। फिर सँभले। ढाढ़स बाँधा कलेजे को पत्थर बनाकर उस प्रकाश के, कफनी सुफेदी के अति निकट नयनों को झुकाया। नजर पर जोर दिया।...वह फेन नहीं, लकड़ी नहीं, एक लड़की का शव था!

उन्होंने साहस के साथ उसे उठाकर किनारे पर रक्खा। सोचा, यह लड़की अभी-अभी डूबी है। पानी पीने से थोड़ा फूल जरूर गई है। मगर चेहरे में कोई खास फर्क नहीं आया है। निश्चय ही यह पानी भरने आई होगी। पाँव रपट गया होगा और......। या फिर इसे हिस्टीरिया की बीमारी होगी, पानी देखकर एकाएक उन्माद हो गया होगा।...ओह! मरते समय इसने एकाधबार कैसी आशा से पुकारा होगा किसी को! मगर इसकी आवाज पाताल की तरफ ही गई होगी,—आकाश की ओर हर्गिज नहीं! इसीलिए ईश्वर ने भी उसे नहीं सुना। हाँ, वह तो आकाश से भी ऊपर, स्वर्ग-लोक में रहते हैं न···

तो यह बहती-बहती इधर एकाधकोस चली आई, ऐं? और यहां आकर किनारे लगी! ठीक है, वहाँ मोड़पर भँवर जो है, यह बीच धारकी ओर न बढ़कर किनारे के धीमे बहाव में ही चक्कर काटती चली आई। फिर किनारे ही पर डूबी भी होगी, बीच धार तक इसे कौन दयालु पहुंचा देता!···

उन्होंने उसे पहचानने की पूरी-पूरी कोशिश की—वह उनके गाँव की नहीं भैया, चाचा या बाबा—किसी भी ऊंचे नाते से उसने उन्हें कभी न पुकारा होगा!······उन्होंने अंधेरे में ही उसे आँखें गड़ा गड़ाकर देखना शुरू किया, वह ब्याही नहीं, कुंवारी है! उसकी माँग में सिन्दूर नहीं। सूंघा, सिन्दूर की

गन्ध तक नहीं। वह देखते रहे, देखते रहे। फिर इधर उधर ताका,—सब ओर सिर्फ अंधेरा !! उन्होंने उसे वहीं पर छोड़ दिया। गाँव की ओर बेतहाशा उड़ चले। बदहवासी में दौड़ने लगे। घर पहुंचकर ठाकुरजी की, गंगाजल से धुली मूर्तियाँ पनाले में फेंक दीं… कंठी तोड़ दी। रामायण और शुकसागर में आग लगा दी। उस समय उनके चेहरे पर ज्वालामुखी जल रहा था। आँखें बाहर निकली आ रही थीं।…उन्होने अपना एकमात्र टीन का सन्दूक खोला। उसमें से, जाने कब के जुगोए कुछ लाल-पीले कपड़े, माँ के दो चार टूटे फूटे गहने और सेन्दुर-भरी डिबिया लेकर उल्टे पाँव नदी-किनारे पहुंचे। अब तक तीन घड़ी रात बीत चुकी थी। उन्होने बड़ी मिहनत से मुर्दे का शृङ्गार किया। माँग में पाँच बार सिंदुर भर दिया। खुद पीली धोती पहनी। गंठबन्धन किया। कुछ गुनगुनाए। फिर उसे कलेजे से चिपका लिया।

उस समय उनकी आँखों से लगातार झर-झर आँसू बह रहे थे और, एक ओर कुत्ते भौंक रहे थे, दूसरी ओर स्यार हुआँ-हुआँ कर रहे थे।

—०—

बरगद के साए में

बरगद के साए में, एक पैर पर दूसरा पैर रक्खे, लेटा हुआ है वह।

हवा में हौले-हौले हिलते बड़े-बड़े रूखे बाल, भूखे की भाँति सूखा-साखा मुँह, अलख सखा के ध्यान में डूबी हुई-सी आँखें!

बरगद के एक-एक पत्ते से जैसे सजल स्वर फूटा पड़ता हो,—एक-एक चिड़िया जैसे अपना जीवन संगीत भूल बैठी हो, उदास, मनहूस वातावरण, सब ओर सायँ सायँ, झायँ-झायँ!

सामने, दो सौ गज के फासले पर, शिवालय के ऊपर कुछ कबूतर पंख फड़-फड़ाते, कुछ मन्दिर के इर्द-गिर्द मँडला रहे हैं!

इसी समय किसी कृपालु ने, निशाना साधकर, गुलेल से पत्थर की गोली फेंकी,—एक कबूतर पीले पत्ते की तरह जमीन पर टपक गया।—क्षण भर पंखों की फड़फड़ाहट, फिर कुछ आवारे लड़कों की हे-हे, हो-हो!

राजकुमार ने धड़ का ऊपरी हिस्सा उठाकर उस ओर डीठ गड़ाई, फिर तुरन्त लोथ की तरह लुढ़क गया!

—तो यह रही जिंदगी! खुली हवा में पंख फैलाकर, आकाश-वीणा के सुनहले तारों में अपने स्वरों की नीली झङ्कार भरने वाले, उन्मुक्त-स्वतन्त्र, निरीह-निर्दोष पंछी की खुशहाल जिंदगी!

—सोचते-सोचते पलकें भींग गईं। भरा घाव फिर से हरा हो गया। टाँके टूट गए। पीर बढ़ गई। एक मिटी हुई तसवीर आँखों के आगे छा गई। एक भूली हुई कहानी अचानक याद आ गई।

× × ×

तब वह पहले-पहल, इस गाँव में, बुआ के यहाँ आया था। उम्र चौदह के कुछ ऊँचे नीचे। एक-एक दल खोले कमल-सा कोमल, खिला हुआ मुखड़ा। बित्ते भर से भी बड़े-बड़े बल खाते बाल, चुन्नटदार बाँहोंवाला मलमल का कुर्ता—भीतर से गंजी की गुलाबी चुपके-चुपके झाँकती हुई, ऊपर सोने की झल-मलाती जंजीर। कानों में कुंडल—बड़े मोती के बराबर तीन-तीन दाने

गुथे हुए। दाहिने हाथ में हीरे की दो कन्नीदार अंगूठियाँ। धुनी रुई-सी सुफेद, हल्की,—विशुद्ध बिलायती धोती। पाँवों में जरी-के जड़ाऊ जूते।

उस रोज, नाश्ते के बाद इसी बरगद के साए में बैठा था,—यह पक्का चबूतरा तब नया ही नया बना था शायद! साथ में गाँव के कई-कई हमउम्र लड़के, हाहा-हीही करते।

कि एक पन्द्रह-सोलह साल की साँवली-साँवली सी लड़की, दो ताँबे के घड़े—एक माथे पर और एक कमर पर रक्खे, नदी की तरफ से आई। छलकते पानी से उसकी आधी साड़ी भींग चुकी थी, चलते वक्त अजीब-सी आवाज आती। माँग-कढ़े अधखुले बाल, आँखों में काजल, सिर में सेन्दुर,—ललाट पर पसीना भरा हुआ।

उसने ऊपर वाले होंठ से नीचे वाले होंठ को दाबते-दाबते, सँभालकर कमर पर का घड़ा उतारा, और उसी चबूतरे के एक किनारे रख दिया।

फिर आँचल के छोर से माथे का पसीना पोंछकर, बड़े इतमीनान से, धीरे से साँस ली—अह!

कि एकाएक एक अजनबी को देखकर, सिर पर आँचल सरकाती-सरकाती पूछ बैठी—

'ए, 'वह कौन हैं? तुम्हारे घर कोई आए हैं - उमेश?'

और, उमेश ने राजकुमार का लम्बा-चौड़ा परिचय दे डाला। सुनते समय वह आँखों की कोर से ही जैसे राजकुमार का लावण्य-जल पी जाना चाहती थी!—जैसे उसकी उतनी बड़ी बस्ती में किसी में उसके-से रूप-रस-की एक बूँद भी नहीं। क्षणभर भौंचक-सी खड़ी रही। फिर धीरे-धीरे घड़ा उठाकर चली गई।

राजकुमार ने उड़ती नजर से निहारा—उसकी चाल, शायद सुस्ता लेने से, काफी तेज हो गई थी।

'चम्पा बहन! चम्पा बहन!!......'

'क्या है री तारा! यों बावली सी चीखती क्यों है?'

'है न? आज तो मेरी बोली चीख लगेगी ही! अच्छा, बता पहले, उन्हें किस संदूक में बन्द कर रक्खा है?'

'अरे, किसे? साफ-साफ कहती नहीं, पहेली बुझाती है? गँवारिन कहीं की! आखिर रही ग्वालिन की ग्वालिन ही।

'वही-वही ! गोरे-गोरे, कुंडल डुलाते हुए आए हैं जो, तुम्हारे घर।'

'छिः, इस तरह घुमा फिराकर राजकुमार भैया के बारे में पूछ रही है ? वह तो ग्यारह बजते-बजते ही, खा-पी कर अपने घर चले गए। मैंने कितना कहा,—चाची (उनकी बुआ) ने बहुत रोका। मगर उन्होंने किसी की एक न सुनी। उनके पिताजी की तबीयत खराब हो गई है,—सवेरे-सवेरे एक आदमी खबर लाया था।

और, सुनते ही तारा प्रभात तारा की तरह मलिन हो गई। उसने तो अभी उन्हें जी भर कर देखा भी न था ! सोचा था, चम्पा बहन के साथ ही वह भी उनसे दो बातें कर लेगी, दो घड़ी आँखें जुड़ा लेगी, और आह ?

घर में कोई हो भी तो आखिर किस पर दमे से खासती माँ को छोड़ कर उसी वक्त, तुरन्त चली आती बेचारी ? यों तो उसने कुछ कम कोशिश नहीं की थी, जल्दी-जल्दी माँड़ भात और हरे मिर्चं की चटनी खिलाकर ही माँ से फुर्सत ले लेनी चाही थी। मगर उसी समय जाने किधर से रिश्ते-नाते के तीन आदमी आ धमके। साँड़ की तरह मोटे, हल जोतने वाले, दानव की शक्ल-सूरत के देवते ! और उसे नए सिरे से रसोई घर में घुसना पड़ा। निठुर माँ ने आने नहीं दिया यहाँ। और……'अब राजकुमार भैया जाने कब आएंगे।'

× × ×

पूरे सात साल गुजर गए। वह सातवें दर्जे का राजकुमार अब बी० ए० होने जा रहा था। इस बीच कितनी तबदीलियाँ हो चुकी हैं। उसका आकार-प्रकार, वेष-भूषा, बातचीत- सब में अनोखापन लग रहा है लोगों को। वह फिर अजनबी ही जान पड़ता है, गाँववाले अचम्भे में आकर उसका परिचय पूछते हैं। चम्पा तक ने एकाएक नहीं पहचाना उसे। चम्पा की शादी है, वह उसी में शरीक होने आया है।

दरवाजे पर शहनाई बज रही थी, नेग-जोग हो रहे थे,—कल ही बारात आनेवाली थी। तो भी शाम को बड़ी उदासी महसूस हो रही थी। जेठ का महीना। सब ओर उजाड़, सपाट, सन्नाटा। वह अकेला ही घूमने निकल पड़ा,—कीड़े-मकोड़ों की जिंदगी जीने वाले गरीब देहातियों

के टूटे फूटे झोपड़ों के बीच से। कि एक झोपड़े के पास ठेस खाए हुए की तरह ठिठक गया। दो बच्चे सामने विलख रहे थे, —एक औरत काली कलूटी, अर्धनग्न अवस्था में जोर-जोर से चीख रही थी,—एक मुस्टण्ड आदमी बड़े मोटे डंडे से उसकी खबर ले रहा था।

राजकुमार ने कसकर डाँटा उसे। वह भड़कीली पोशाक वाले एक अनजान आदमी की ऐसी रोबीली आवाज सुनकर सकपका-सा गया। तनिक आगे बढ़कर, झुककर सलाम किया। फिर हाथ जोड़कर कहने लगा :

—मालिक ! इधर छः-सात साल से यह बैशाख में यहाँ चली आती है; और बगैर अखाड़ के यहाँ से टस से मस नहीं होती। पहले मेरी सास (इसकी माँ) थीं, तब भाग आती थी तो कोई बात नहीं,! तीन बच्छर बीते, वह भी गुजर गईं। तब भला यह यहाँ किसके पास आती है ? वहाँ गाँव में मेरी शिकायत होती है कि जग्गू महतो की औरत घर से निकल भागी ! क्या मैं अंधा-लँगड़ा या काना-कूबड़ा हूं, सरकार ? घर में भैंस लगती है, मैंने इसे घी भर निकाल कर सारा का सारा मट्ठा पी जाने की इजाजत दे दी है,—आखिर इसे और क्या चाहिए ?

यह कहती है कि गर्मी के दिनों में इसका यहीं मन लगता है, किसी से बुरा-भला लगाव नहीं है, मगर दुनिया इस बात को कैसे मानेगी सरकार ?

मेरे आए तीन रोज हो गए। बराबर चलने के लिए समझा रहा हूं, आरजू कर रहा हूं, मगर यह हठ ठाने हुए है कि कौन तो चम्पा बहिन हैं, उनकी शादी भर यह हर्गिज न जायगी। शायद कोई आने······

और, इस बीच वह औरत आंसुओं को आँचल में सुखा चूकी थी। उसने डरते-डरते देखा, फिर-फिर देखा, टकटकी बाँधकर देखा, और पगली की तरह 'राजकुमार भैया' पुकार कर, दौड़कर, सटकर, खड़ी हो गई :

'राजकुमार भैया ! तुमने मुझे पहचाना नहीं ? मै वही हूं, वही, उस साल······

और, उस आदमी ने कस-कसकर कई डंडे उसपर दे मारे : तो यह हैं तुम्हारे यार ? तब भला क्यों मन लगे मेरे घर ?

राजकुमार ने आँखों पर, मन पर बहुत जोर लगाया,—एक छन में मन जितनी दूर तक जा सकता था, जहाँ कहीं जो कोई बारीक से बारीक जगह हो सकती थी, उसने जर्रे-जर्रे में उसे ढूंढ़ने की कोशिश की, लेकिन आह······! और, वह औरत वहीं कटे पेड़ की तरह ढेर हो गई। छटपट-छटपट करने लगी। खून की बारिश में नहाई-सी, डूबते सूरज की किरनें साड़ी की तरह लपेटे

गोधूलि-धूसर सन्ध्या-सी। उस समय भी जैसे होठों के भीतर बुदबुदा रही थी—"आह! राजकुमार भैया! तुमने भी मुझे नहीं पहचाना!"

उसी समय आम की लची डाल से एक पपीहा पुकार उठा—पी कहाँ?

X X X

जब दो रोज तक तारा न आई; चम्पा ने अपनी महरी भेजकर कहलाया कि जल्दी आओ, तुम्हारे 'वो' आए हैं।

मगर महरी ने लौटकर जो कहानी सुनाई, उससे चम्पा एकबारगी मुरझा गई। अब तक तारा जलाई भी जा चुकी थी। पंचों ने सारा जहर पचा लिया था। पुलीस तक को खबर नहीं दी गई थी।

पीछे एक रोज चम्पा ने शरमाने-शरमाते तारा का सारा किस्सा राजकुमार को कह सुनाया कि अब से सात-आठ साल पहले जब वह पहले-पहल इस गाँव में आया था, तारा ने उसे तनिक देखा था। वह नदी से पानी भर कर आ रही थी; और......।

जब वह दुपहर में घर लौट गया, शाम को तारा उसे ढूँढ़ती आई थी, मगर अफसोस......!

उसने बार-बार पूछा था,—वह फिर कब आएंगे? मगर इसका ठीक-ठीक जवाब कैसे दिया जा सकता था, एक अन्दाज़ से कह दिया था कि पढ़ने के सबब गर्मी की छुट्टियों में ही कभी आना हो सकता है!

और तब से उसके सब बैशाख-जेठ यहीं कटे। वह कोई न कोई बहाना बना कर यहाँ जरूर चली आती थी। इधर; जब उसकी अम्मा मर गई थी, उसका यहाँ अकेले-अकेले रहना मुसीबतों से खाली न था। मगर वह सब झेल जाती थी।

और कहीं तो कोई अवलम्ब था नहीं। मेरे ही घर कूट-पीसकर खाना पा जाती थी!

अब तो उसके दो-दो बच्चे भी हो चुके थे। बड़ी दुबली, रोगिन-जैसी दिखती थी। मगर फिर भी उस साल की वह घटना वह बार-बार कहा करती थी।

मैंने एक दफा बहुत हठकर पूछा था कि तू राजकुमार भैया से क्या पूछेगी? मिलने पर क्या कहेगी? तो उसने मुंह बिचकाकर कहा—

दुत ! पूछूंगी क्या ? कहूँगी कि—राजकुमार भैया ! आपने मुझे नहीं पहचाना ? मै वही हूँ, वही, जिसने उस रोज पहले पहल······

X X X

बहुत बरस बीत गए। राजकुमार अब पच्चीस-सत्ताईस साल का विवाहित युवक है। उसकी स्त्री रूप-गुणों से अलंकृत, दोनों में खूब प्रेम। वह पराई औरतों की तरफ नजर उठाकर भी नहीं देखता—किसी का प्यार उर में संजोए रखना तो खैर······! चम्पा ससुराल में है। यहाँ सब बड़े-बुजुर्ग ही नजर आते हैं। वह मन बहलाने के लिए गाँव के किनारे वाले बरगद के पेड़ के साए में एक पैर पर दूसरा पैर रक्खे लेटा हुआ है। बुआ मर गई हैं ! उन्हीं के श्राद्ध के अवसर पर तीसरी बार वह इस गाँव में आया है।

हवा में हौले-हौले हिलते, बड़े-बड़े रूखे बाल, भूखे की भाँति सूखा-साखा मुंह, किसी अलख-सखा के ध्यान में डूबी हुई-सी आँखें !

बरगद के एक-एक पत्ते से जैसे किसी का करुण-राग फूटा पड़ता हो ! एक-एक चिड़िया जैसे अपना जीवन-संगीत भूल बैठी हो,—उदास, मनहूस वातावरण—सब ओर सायं-सायं, झायँ-झायँ !

—०—

'४०

नेता

बादल बरसने वाले न थे ! शायद इसीलिए उनका गर्जन-तर्जन बड़ा भयानक था। लगता था, वे पानी बरसाने के बदले आग लगाएंगे; सारी दुनिया को जलाकर खाक कर देंगे। मगर अफसोस कि हवा के एक ही हल्के-से झोंके ने उनकी पोल खोलकर सारा गुड़ गोबर कर दिया। और, फिर सब मजदूर बड़े जोर-शोर से काम में जुट गए। पिछली कमी पूरी कर लेने का खयाल उन्हें नेपोलियन का साहस, विश्वास और बल प्रदान करता रहा। फिर क्या था ? देखते-देखते महल ने दो हाथ और ऊंचा सर उठा लिया, नीचे वाले और नीचे नजर आने लगे !

इसी समय बिजली कड़की। लगा कि वज्र गिरा। लेकिन सर पर ईंटें लादकर बाँस की सीढ़ियाँ चढ़ता-चढ़ता सुधुआ सर के बल आ गया था; नए जोड़ की बेजोड़ कारीगरी-भरी दीवार का सुर्ख कफन ओढ़कर। मजदूर-दल में सनसनी फैल गई—'सुधुआ स्वर्ग सिधार गया।'

मकान-मालिक रायबहादुर दमड़ी साहू आसमान में उड़ने के लिए तड़फड़ाती हुई इस खबर के पर तोलने दौड़े-दौड़े आए। उनके बर्फ से सर्द-सुफेद गालों पर गर्द-सी छा गई, गणेश जी की-सी तगड़ी तोंद जैसे आशङ्का के सिन्धु में ऊभ-चूभ होने लगी। मगर मजदूरों ने ही उन्हें धीरज बंधाया कि इसमें उनका क्या दोष है; होनी सबसे बडी है !

सुधुआ को घेरकर खड़ी गोल भीड़ से कुछ ही फासले पर एक गुलाबी चुनर पहने नवयुवती भौंचक-सी खड़ी थी। उसकी आंखों में आंसू न थे, मुमकिन दिल में ज्वाला जल रही हो। वह और औरतों के साथ सुर्खी कूट रही थी, निश्चय ही वह किसी की पहचानी न थी। वह सुधुआ की नव विवाहिता पत्नी थी।

सांझ हो चुकी थी। आसमान के मुंह पर तारकोल और तारपीन का तेल पुता हुआ था। रायबहादुर के दरवाजे पर मजलिस बैठी थी। सब स्त्री-पुरुष सुधुआ की बेसुध बीबी को समझा-बुझा रहे थे कि अब जो हुआ सो हुआ, इसके लिए सोच करना व्यर्थ है। भला रायबहादुर के खिलाफ सरकार बहादुर के घर क्यों कर सुनवाई होने लगी ? गरीबों के लिए एक ही रास्ता है, राम

का नाम लेना। वह क्या गाना है ?—'धनवालों की दुनिया है यह, निर्धन के भगवान !'

सुधुआ के गांव का और एक मजदूर वहां काम कर रहा था। नौकरों द्वारा उसे कुछ दे-दिलाकर रायबहादुर की तरफ कर लिया गया। उसी से मालूम हुआ कि सुधुआ के घर में उसकी एक बूढ़ी माँ भी है। वह खुद रिश्ते में सुधुआ का भाई लगता है।

मालिक की कनखियों का इशारा पा वह भी अपनी भाभी को भरोसा देने लगा कि जब तक वह जिंदा है, अपनी मजदूरी में से उसे खाने-कपड़े को दिया करेगा, लेकिन अब इस घड़ी रोने-धोने या सोचने-विचारने से क्या कुछ होने-जाने वाला है ? और, उस काठ की पुतली का घूंघट डोल उठा, जिसका मतलब था कि उसे पंचों की राय मंजूर है !

सभा-विसर्जन के समय सब मजदूरों को एक-एक रुपया पीने के लिए दिया गया। सुधुआ की बीवी के गुदगुदे आँचल से दस रुपए देवर द्वारा बंधवा दिए गए। सबों ने एक स्वर से मालिक की दया की प्रशंसा की, जयजयकार करते उठे : दस रुपए !—दो मन चावल ! बाप रे !

दूसरे दिन देवर-भाभी के अलावा सभी मजदूर खूब सबेरे से ही काम पर आ डटे। लाश रातों रात कहाँ और कैसे गायब की गई, इसकी चर्चा तक उन्हें नामुनासिब मालूम दी। स्त्रियों ने सुर्खी कूटते हुए कल ही के स्वर में संगीत छेड़ा। पुरुष कल से भी अधिक परिश्रम दिखाने लगे। और, मालिक कल क्या ? परसों से भी अधिक निश्चिन्तता से उनपर कड़ाई करने लगे। और स्थानीय समाचारपत्रों में आज और दिनों से कहीं ज्यादा जोरदार, वजनदार लेख छपे समाजवाद पर।

× × ×

करीब पन्द्रह रोज बाद दो किसान-मजदूर-नेता रायबहादुर की चमकती कार में बैठकर, उन्हीं के साथ गपशप करते हुए गाँव की खुली हवा की ओर बहे जा रहे थे। बातचीत आज के गरिष्ठ भोजन पर चल रही थी। एक नेता रेशमी रूमाल से ठोढ़ी पर गिरी पान की पीक पोंछते हुए कह रहे थे कि दूसरे ने पन्द्रह पुओं पर पाव-पसेरी दूध भी पिया था। और दूसरे ऐनक पोंछते-पोछते जवाब दे रहे थे कि पहले ने दो कटोरे सेवई के भी सबेरे-सबेरे साफ किए थे। रायबहादुर, जिनके सामने के दो दाँत टूट गए थे; जिनके काले मुखड़े पर पान की लाली पत्थर कोयले में आग लगी-सी दिखती थी, उन दोनों

की हथेलियों पर एक-एक सिगरेट रखते हुए बोल रहे थे कि आज रात को वह खुद खिलाएँगे, फिर देखेंगे कि दोनों में कौन बाजी मारने वाला है ! क्योंकि कल सबेरे शायद सात बजे से ही उन्हें मजदूर-सभा में पुरजोर भाषण करना है ! जब डटकर खाया ही न जायगा तो रटकर बोलने-जैसी बेफाँस जुबान निकलेगी कहाँ से !

और अब तक कार सड़क के बाएँ बाज़ू से सटकर बसे एक गाँव के सामने खड़ी कर दी गई थी। नेताजी जरा गाँव वालों के स्वास्थ्य पर एक नजर डालते जाना चाह रहे थे। बीच बस्ती में पहुँचने पर एक झोंपड़े के सामने नाचते हुए कुछ तरुण स्त्री-पुरुष दीख पड़े। नेताजी आँखें गड़ाकर इस अमूल्य नृत्य का आनन्द लेने लगे। नाचते हुओं के निकट ही नीरा-(ताड़ी नहीं) बाजी हो रही थी। अभी पाँच मिनट भी नहीं गुजरे थे कि पीले रंग में रंगी एक जोड़ी ने धीरे-धीरे आकर रायबहादुर के आगे घुटने टेक दिए। रायबहादुर ने प्रसन्नता से पहचाना; यह उन्हीं देवर-भाभी की जोड़ी थी। उन्होंने उनके जुड़े हाथों में जोड़े-जोड़े रुपए दिए।—नेताओं ने आपस में कानाफूसी की : इस गांव के किसान-मजदूर काफी चन्दा दे सकते हैं !

लौटती बार, कार पर बैठते समय नेताओं के बीच बिराजते हुए राय-बहादुर के कानों में किसी बूढ़ी औरत, जो सुधुआ की माँ थी शायद, के जोर-जोर से रोने की आवाज आई। उन्होंने कहा: "यही दुनिया है, एक ओर गाना-बजाना, दूसरी ओर रोना-धोना !'

और, उनकी बात काटते हुए दोनों नेताओं ने एक साथ अपनी सूक्ष्म सम्मति प्रकट की :—

नहीं-नहीं, यह सब ग्राम-संगठन के अभाव का फल है। जिस समय ये भोले-भाले इन्सान समझ जायँगे कि हम सब बराबर है, सब एक हैं, उस समय ऐसी फूट की बात हो ही नहीं सकती ! इसीलिए तो हमलोग सोच रहे हैं कि इस गाँव से चन्दा वसूला जाय, यहां भी एक छोटी-मोटी मीटिंग की जाय ! इस समय कई-कई प्रगतिशील पत्र निकल रहे हैं, कुछ उनके लिए भी तो मसाले चाहिए, हमारी रोज-रोज की Activity का रेकर्ड रहना चाहिए; हमलोग किसी मुर्दा-संस्था के लीडर तो हैं नहीं कि छठे-छमाहे कभी कोई काम कर लिया करे !

—०—

पैसे की पहचान

क्यों तो ताड़ के पेड़ की डालें खड़खड़ाईं ?—एक गीध बैठा है ! खेत के कामों से थका-मांदा लौटा हूं। लेट जाने की तबीयत हो रही है। जड़ के पास पेड़ कुछ टेढ़ा-मेढ़ा, झुका-झुका-सा है। जरा इसी का सहारा ले रहा हूं। कुछ देर नींद आ जाती तो अच्छा होता। करौंदे के फूलों की खुशबू से लदी हुई हवा क्या हाथी की चाल चल रही है !

लो, केशव बाबू इधर ही चले आ रहे हैं ! छड़ी और चश्मा चमकाते, बूट मचमचाते। मुझे देखते ही बड़बड़ाना शुरू कर देंगे—कालिदास-शेक्सपियर: हिटलर-मुसोलिनी, गांधी-जवाहरलाल। मुझे कहना पड़ेगा,—शेक्सपियर सिंह था, कालिदास बकरा। ऋषि—महर्षि राक्षस थे; हिटलर-मुसोलिनी देवता; राम-कृष्ण कल्पना हैं, गांधी-जवाहर वास्तविकता। सच कहूं तो तिलचटे की तरह मेरा दिमाग ही चाट जायं।

मान लीजिए, यह प्रसङ्ग न छिड़ा, तो कोई और छेड़ेंगे। युनिवर्सिटी छोड़े अब चार वर्ष पूरे होने को आए। कुछ नहीं, वहीं का वर्णन करेंगे—"इधर कई बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी हुई हैं, झील बनी है, मन्दिर बन रहा है !"

मैं जानता हूं, आए दिन इमारतें बढ़ती ही गई हैं। लड़के कृष्णपक्ष के आकाश में कचपचिया तारों की तरह बढ़ते ही जाते हैं। कितने ही साल गुजर गए, हजारों-हजार शिक्षित हो-हो कर निकले। क्या कोई वैसा भी निकला, जिसे उदाहरण में रखकर देश गर्व करता : 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का स्नातक है !'

फिर इमारतें बनें या बिगड़ें,—इससे किसी का क्या बनता बिगड़ता है !

समझ लीजिए, इस प्रसंग में रंग आ गया। फिर तो बनारस चलने के तकाजे शुरू होंगे। क्योंकि इधर जब भी मिले हैं, वहां से एक दफा घूम आने के लिए मुझे ललकारा है। खास तौर से वहां के समाज में अपना आसमान के बराबर ऊंचा आसन दिखलाने को बहुत व्याकुल हैं। खैर, आज कहा तो कसम दे दूंगा। ले चलो, देखूं, डेढ़ सौ रुपए माहवार में कैसे बिड़ला-होस्टेल से दालमंडी तक सुनहला जाल डाल रक्खा है उन्होंने !

एक हफ्ते में धान का अभी कुछ बिगड़नेवाला नही। खेतों में काफी पानी है। लौटने पर 'कटनी' शुरू होगी।

(२)

हड़-हड़-हड़। रेल दौड़ी। टुन-टुन-टुन। तांगे की घंटी बजी। मैं अब केशव बाबू के साथ हिन्दू युनिवर्सिटी आ गया हूं। चार वर्षों में जो परिवर्त्तन हुए हैं, चार दिनों में घूम-फिर कर देख चुका हूं।

विश्वास करें, विद्यापीठ के पास एक भारत-माता-मन्दिर देख कर मुझे जितनी प्रसन्नता हुई, उतनी यहाँ की इमारतें, झील, बाग देख कर नहीं।

यहाँ मेरे गाँव के एक व्यक्ति और हैं— ब्रह्मदेव। थर्ड इयर में पढ़ते हैं। आज शाम को उन्हीं के साथ जरा संकट-मोचन के दर्शनार्थ निकला हूं।

मेरे वक्त के लड़के अब प्रायः नहीं हैं। ब्रह्मदेव से पूछने पर दो चार का पता लगा है। यह लो, रास्ते में राजकिशोर दिखे। यह मेरे वक्त भी सेकेण्ड या थर्डइयर में थे। आरम्भ से ही ऊंचे पाए की गद्य-पद्यात्मक कविताए लिखने का अभ्यास है ब्रह्मदेव को। नन्दकिशोर उनकी क्रान्तिकारी भङ्गिमाएं देख कर उछल पड़ते : Excellent ! Next to शैली !!

जरा इनसे मिल लेता हूं। कह रहे हैं—

"ओः ! आप ? यहाँ ? इस वक्त ? यों ? अकेले ?"

हँसिए नहीं, यह हमेशा इसी लहजे में बोलते हैं। मेरा यथोचित उत्तर सुनकर, देखिए, कैसे 'सीरियस' हो गए हैं !

"ब्रह्मदेव जी, इधर आपकी कविताएं मैंने पत्र-पत्रिकाओं में देखी हैं। अब आप भी, छिः छि······! पहले आप में कैसी गजब की प्रतिभा थी !"

मैं ब्रह्मदेव की इधर की रचनाओं में पहले की अपेक्षा कोई कमी नहीं पाता। हाँ, उनमें साम्यवादी हंसिए-हथौड़ों की चोट होती थी, अब छाया-वादियों की तन्त्री के तार बजते हैं। गति कलकत्ता से पाण्डिचेरी की तरफ मुड़ गई है।

लेकिन तब यह उन्हें राष्ट्रकवि से विश्वकवि होने तक की भविष्यवाणी करते थे और अब, जब सचमुच ही विश्व-वीणा की झंकार, विश्व-प्राणी की मूकवाणी, विश्व-शान्ति की कल्याणी वेदना को अपनी कविताओं में उतारने की साधना ब्रह्मदेव ने की है, यह शिशिर को महाराष्ट्रकवि मानने लगे हैं।

खास तौर से इसलिए कि शिशिर का कहना है, छायावादी रवीन्द्रनाथ का जूठन उठाते हैं। लेकिन स्वयं शिशिर नजरुल की साहित्यिक मुर्गी के अडे हैं कहते शर्म लगती है। खैर, हिन्दी में ऐसी ही खोपड़ियों की भरमार है। कोई अपने से भिन्न को अच्छा नहीं कहता।

इन्हें फिर मिलने को कह कर दो चार डग आगे बढ़ गया हूं। मेरा पुराना दोस्त रेवाशङ्कर साइकिल से आता दिखता है। उसे दोस्त नहीं, साथी कहना अच्छा होगा फर्स्ट इयर में आया था, गरीब, फटेहाल, फ्रीशिप का मोहताज। आज हिन्दू-युनिवर्सिटी की संस्कृति के अनुसार सूट पहने, हैट लगाए है। ब्रह्मदेव का कहना है—फिफ्थइयर साइंस में पहुंच गया है। उस वक्त दिन भर में तीन बार मुझे नमस्कार करता था। अब, सुन रहा हूं, निराशावादी कह कर मजाक उड़ाता है। मुझे उम्मीद थी, देखते ही साइकिल से उतर कर पहले की तरह लिपटते हुए पाकेट में हाथ डाल देगा। लेकिन अफसोस ! वह तो मुंह फिराए आगे बढ़ गया। ब्रह्मदेव ढाढ़स बंधा रहे हैं। शायद उसने मुझे पहचाना नहीं ?

इस बार कुंवर नक्षत्रराय दिखे हैं। त्रिवली की तरह गर्दन, पीठ और कमर तीनों जगहों से बल खाते, नई उम्र की बलैयां लेते हुए। जिस साल मैं कालेज छोड़ रहा था, एकाएक एक दिन 'तुम' सम्बोधन के साथ इन्होंने एक पत्र लिखा। पच्चीस रुपयों की फरमाइश थी। किस तरह खादी के साफ कुर्ते के भीतर मैं अपनी मलिन मुफलिसी छिपाए रहता था, बताना व्यर्थ होगा। मैंने घर पर पिताजी को कई झूठी जरूरतें बतलाकर इनके लिए रुपए मंगवा दिए। हफ्ते-दो-हफ्ते के लिए इनकी मांग थी, अब चार वर्ष से भी ज्यादा हो गए, इन्होंने वापस देने की जरूरत नहीं समझी। बीच-बीच में जब भी मैंने ब्रह्मदेव से पुछवाया है, इन्होंने "इटैलिक लेटर्स" में मेरे घर का पता नोट कर लिया है।

मुझ से पूछ रहे हैं—'अभी रहिएगा न" ? खौफ होगा, बेसब्री में बीच सड़क पर चार चांटे न जड़ दूं ! लेकिन मुर्दे पर तलवार उठाने को आप बहादुरी कहेंगे ?

वह विन्ध्याचल है। कितना मानता था मैं उसे ! वह भी कहा करता था: जिन्दगी भर मैं आपको भूलनेवाला नहीं। खुद तरह-तरह की तकलीफें सहकर भी मैं उसके चेहरे पर शिकन देखना नहीं पसन्द करता था। लेकिन वह तो 'गुड इवनिंग' कह कर चुपचाप चला गया।

सोचता हूं, उस सत्य-संस्कृति के शिक्षार्थी की बात पूरी करने के लिए मेरी जिन्दगी चार ही वर्षों में क्यों न खतम हो गई ? क्यों मैं केशव की बात पर वेदना और समवेदना से सर्वथा शून्य इस स्वर्ग-भूमि में आया ? या यह भी अच्छा ही हुआ, कौन जाने–शायद मरने पर नरक जाना पड़े, इसलिए एक बार जीते ही जीते स्वर्ग–यात्रा कर ली। लेकिन अब सुबह ही स्वर्ग से लौट जाना ठीक होगा, मर्त्य-लोकवासियों को यहाँ का हाल सुनाने के लिए। कैसा सुन्दर नदन-वन है यहां ! आकाश-गंगा की निर्मल-धवल धार में धुल कर⋯⋯हटाइए, अब वहीं कहूंगा। ब्रह्मदेव मेरी प्रतिष्ठाप्रियता की परेशानी देख-देख कर हंसते हैं। मैं सफाई दे रहा हूं –भाई ! यह तो मानव-प्रकृति है, प्रतिष्टा-लोलुपता नहीं। जिनके साथ मैंने साल-दो साल बिताए, खुद भाँति-भांति के कष्ट सहे, पर शक्ति भर उनकी हर तरह से, पैसों से भी, मदद दी, रात-रात भर जागकर उनके पिछड़े कोर्स पूरे कराए, आज चार साल बाद अचानक मिलने पर क्या मैं उनसे इतनी आशा भी नहीं कर सकता कि वे क्षण भर रुकें, कुछ नहीं तो कुशल-मंगल के दो शब्द ही बोलें ?

ब्रह्मदेव का कहना ठीक है– वह तो निरी पैसों की पहचान थी। दुख मानना गलत है, वह मुझे नहीं, मेरे पैसों को पहचानते थे !

भाई, आप नाराज न हों ! मैं गरूर से सिक्कों, रुपयों की बात नहीं बता रहा, महज पैसों की। हालाँकि यह भी मेरी कमजोरी है। लेकिन ऐसी कमजोरी का शिकार कौन हाड़-माँस का पुतला नहीं है ? आपके मां-बाप भी तो आप से कुछ उम्मीद रखते हैं ! फिर आप मानवता की ऊंची पहचान के लिए हो तो ऊंची शिक्षा प्राप्त करते हैं ! अगर आप में वह नहीं तो ऐसी निकम्मी बुनियाद पर अपनी बुलन्दी कायम करने वाले आप किस के काम आएगे ?

अब संकटमोचन के फाटक पर पहुंच चुका हूं। 'जय सियाराम' की दुकान से पान खाकर मन्दिर की ओर बढ़ रहा हूँ। फाटक के भीतर कतार बांधे भिखमंगे खड़े हैं। आज मंगलवार है, दर्शनार्थियों की भीड़ उमड़ी पड़ती है।

युनिवर्सिटी के अधिकांश लड़के इम्तहान के दिनों में संकटमोचन को लड्डू चढ़ाने आते हैं। मैं जुलाई से एप्रिल तक बराबर आता था। अति रिक्त भक्ति के कारण नहीं, सम्भव है, गोस्वमी तुलसीदास जी की कर्म-भूमि होने से यहां आने पर मुझे अपूर्व शान्ति मिलती हो !

में बढ़ता चला जा रहा हूं। आगे मन्दिर की सीढ़ियां हैं। लेकिन यह

क्या ? यह कौन सी लड़की एकाएक रास्ता घेर कर खुशी से नाचने लगी ?—

"बहुत रोज बाद आए बाबू जी ! आपने बाल कटवा लिए हैं, और कुछ लम्बे भी हो गए हैं, तो क्या मैं आपको पहचानती ही नहीं ? आप हर शनीचर और मंगल को मुझे एक-एक पैसा दिया करतेथे न ? हां मैं यों छोड़ने की नहीं। निकालिए जल्दी से एक पैसा !"

पुरानी स्मृति जैसे जमुहाई लेकर जग गई है। विश्वास करें, तब यह लड़की मुश्किल से छः-सात साल की थी। और तो और, तब में इसे देखकर इस नतीजे पर भी नहीं पहुंच सका था कि यह लड़का नहीं, लड़की है। पर इसे इतने वर्षों बाद भी मुझे पहचानते देर न लगी। आज छात्र-जीवन के वे घने रेशम-से केश मेरे माथे पर नहीं झूल रहे। उसने उन पर हाथ फेरते हुए कभी नहीं कहा था—कमाल के बाल हैं आपके इधर देहात की शुद्ध आबो-हवा में रहने से ज्यादा लम्बा-चौड़ा भी हो गया हूँ। इसे मेरा नाम भी नहीं मालूम। कितनी दूर से मैं आया हूं, यह इसकी कल्पना से परे है। फिर भी इसने मुझे देखते ही पहचान लिया।

जैसे यह पिछले चार-वर्षों के हर शनीचर और मंगल को लोगों की भीड़ में से मुझे अलग निकलने के लिए मूक प्रार्थना करती रही हो, जैसे यह पिछले सभी शनीचर और मंगल के पैसों को इस बार के एक ही पैसे के भीतर देख रही हो, इसके रोम-रोम प्रसन्न हो रहे हैं। काला चेहरा हँसी से बिजली-जैसा चमक उठा है। अछूत होने के कारण इसे इतनी हिम्मत नहीं कि बहुत पास खड़ी हो, फिर भी जैसे मेरी डबडबाई आंखों में तिर रही हो, इतनी खुश हैं यह।

ब्रह्मदेव इसे एकटक देख रहे हैं। मैं मन-ही:मन सोच रहा हूं : क्या यह भी मुझे नहीं, मेरे पैसे को ही पहचानती हैं ?



रोदन का राग

उस बार मोरपंखी साड़ी न ले जाने से मामी नाराज हो गई थीं। बाबू जी के बार-बार डराने पर भी मैं मामा के घर जाने के लिए राजी न हो रहा था। मेरे गाँव के चारों तरफ, दो-दो, चार-चार कोस के फासले पर हैजा जोरों पर था। जब देखा; वह मुझे भेजे बिना दम न लेंगे, मैंने आनाकानी करने का असली हाल बतला दिया। सुन कर हंसे। फिर दो मोरपंखी साड़ियाँ, चार पक्के रंग के लाल-लाल झूले दोनों हाथों के लिए ५० मोटी-मोटी चूड़ियाँ, रुपए के बराबर माथे की रंगीन टिकुलियाँ, मोटे सिन्दूर की चौकोर डिबिया, रुपए में आधामन बिकने वाली गुड़ की मिठाइयाँ वगैरह मामी की खुशी जीतने का सारा सामान खरीद कर मुझे दूसरे ही रोज शुभ मुहूर्त में रवाना कर दिया।

वैशाख की दोपहरी। प्यास से बेचैन। हाँफता हुआ घोड़े की लगाम झकझोरता जाता था। सामान के हल्केपन से खुश मेरा आदमी मुंशी मस्त चाल चल रहा था। हुसेनगंज में घोड़े को सत्तू पिला देने और खुद खा लेने के बाद तो जैसे उसके पैरों में पर लग गए थे। सिर्फ मैं पसीने से तर, धूल-भरी आँखों से आगे की ऊबड़-खाबड़ पथरीली राहें देखता, आहें भरता जाता था। आखिर शाम होते-होते मामा के गाँव में पाँव रखने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। लेकिन अफसोस! तब तक सारा गुड़ गोबर हो चुका था। मेरी मामी मामा के साथ सुबह ही मैके चली गई थीं, उनके भाई बेहद बीमार थे शायद घर की रखवाली के लिए बूढ़ी दाई रह गई थी, एक चरवाहा छोकड़ा भी।

बाबू जी के 'शुभ मुहूर्त' पर बड़ा गुस्सा आया, उसे अपने आदमी पर उतारना भी चाहा। वह गिड़गिड़ाया : मालिक! इसमें मेरा क्या कसूर है? बात सच थी। लेकिन क्या सचाई पर गुस्सा नहीं आता? फिर गुस्से में सचाई-झुठाई की सही-सही पहचान रह ही जाए तो ऐसे गुस्से से तो पांव पड़ना कहीं अच्छा है। मैंने उसकी सील-सी मजबूत पीठ पर तीन-चार जूते कस-कस कर जमा दिए। अगर जूता मुंह बाता न नजर आता, उसकी जान की खैर न थी, लेकिन ——…—।

इसी वक्त एक खूबसूरत लड़की कडे की धुआँती आग लिए सामने से गुजर गई। उधर से दाई हाथ-पाँव धुलाने के लिए पानी लिए पहुंची। फिर शरवत की ठंडाई से जी की जलन बुझाई गई।

अब रात में भात खिलाने की बात थी। दाई ने पड़ोस में कह कर उसका भी निबटारा कर लिया। मैं थका था, नींद आ गई। सपने का दौरा शुरू हुआ। मैं पिता जी से गर्म-गर्म बहस कर रहा था, जरूर ही वह किसी मोती-जवाहर की जैसी बहस न थी। जब उन्होंने तमाचे चलाने शुरू किए, नन्दरानी मेरे बालों को हल्के-हल्के छू-छूकर मुझे जगा रही थी—"ए! उठो न। खाने चलो। अम्मा बुला रही हैं।"

उठ बैठने पर मेरे घुंघराले बालों में उंगलियाँ उलझा कर खाट के पास खड़ी हो गई। मैंने आँखें मल कर पहचाना:—"तीन साल में तू इतनी बड़ी हो गई?"

"और तुम अपने को न देखो। ठूंठ खजूर की तरह लग रहे हो--इस साल चुपके-चुपके ब्याह भी कर लिया।"

'खूब। तुझे यह सब कैसे मालूम हो गया?"

"तो तुम समझते हो कि सिर्फ तुम्हीं लिखे पढ़े हो! अब मेरा भी 'शिशु-प्रमोद' खतम हो चला, हाँ! मैं 'आगमजानी' जानने लगी।"

"हूं। अच्छा, चल। पहले खिला। क्या-क्या पकाया है?"

"भूख लगी है न—?बताओ, मैं 'आगमजानी' जानती हूँ तो?"

"हाँ-हाँ, तू क्या नहीं जानती। लेकिन बता भला, ससुराल कब जाएगी?"

"दुत। अब चलो जल्दी, अम्मा बैठी इन्तजार कर रही होंगी।"

नन्दरानी मुश्किल से बारह-तेरह साल की होगी। दस-ग्यारह की उम्र में उसका ब्याह हुआ था। खाते वक्त उसकी अम्मा से मालूम हुआ—यह तीसरा साल है। सत्तू-सक्रान्ति की रात में उसकी गौने की बिदाई होगी, मुझे कम से कम तब-तक वहाँ रहना ही पड़ेगा। मुमकिन है, उस रोज तक मेरे मामा भी लौट आएं।

हैजे का ख्याल कर मैंने नाहीं नहीं की। नन्दरानी खुश हो गई।

उसका और उसके पति प्रमोद का नाम जोड़-जोड़ कर स्त्रियाँ रात-रात भर गीत गातीं, झूमर खेलतीं। और हम दोनों काफी देर तक सुन-सुन कर हंसते, हंस-हंस कर सुनते। सप्ताह बीतते देर न लगी। आज नन्दरानी सुबह-सुबह रोने लगी, लेकिन 'राग' में न रो सकी। मैंने दुपहर में पूछा तो बताया कि अम्मा रोना सिखला रही थी?

मैंने मजाक किया – मैं तो लौटा जा रहा था तेरा ऐसा बेसुरा 'रोदन-राग' सुन कर। उसने घबरा कर कहा,—"जाओ मत, मैं अभी रोना सीखे लेती हूँ, आखिर मुझे पहले रोने का मौका ही कब मिला था जो आज सधा-हुआ राग निकलता।"

सुन कर मुझे जोरों की हँसी आ गई। अब वह फूट-फूट कर रोने लगी। सोचा, "बच्ची है, ससुराल की याद कर घबरा रही है। उसके सगे भाई भी नहीं जो जल्दी बुला लाएंगे।" लेकिन जब उसने मेरे हाथ में एक खुला लिफाफा रक्खा, मैं अवाक हो गया। बात बड़ी बेढ़ंगी थी। वह चिट्ठी उसकी ससुराल की थी। घटे भर पहले पोस्टमैन दे गया था। उसने कौतुकवश खोल कर उसे पढ़ लिया था। लिखा था, - गौने का दिन बढ़ा दिया जाय। लड़का सख्त बीमार होकर गया के बड़े अस्पताल में पड़ा हुआ है। लेकिन उसकी एक अजीब ख्वाहिश है। वह बहू से एक बार मिलने के लिए बहुत जिद कर रहा है। हालांकि गौने से पहले बहू ससुराल नहीं जा सकती, लेकिन गया का अस्पताल तो ससुराल में नहीं है।उसे लेकर गया में मिलिए।

मैंने कहा--प्रमोद की बीमारी अच्छी हो जाएगी, इसमें रोने की क्या बात है? वह हंसने लगी। उसने रोने का कारण प्रमोद की बीमारी नहीं, माँ-बाप से चुपके पत्र खोलना था। पत्र भी ऐसा नहीं था कि हजम करने की सलाह मैं दे सकता। आखिर मैं ही झूठ बोला। उसके बाप से बतला दिया, चिट्ठी मैंने खोली थी। खुशी में वह मुझसे लिपट गई। मैंने धीरे-धीरे उसे परे हटाते हुए मना किया—"अब यह सब ठीक नहीं।" वह भवें तान कर चुप हो रही।

उसके बाप ने मुझसे सम्मति माँगी। मैंने कहा, लड़की से मिला देने में कोई हानि नहीं। उसकी अम्मा ने भी मेरे ही कहे का समर्थन किया। लेकिन गाँव के बड़े-बूढ़ों की जमात सर पर आसमान उठाने लगी। मैंने लाख समझाया, - आखिर धर्म और शास्त्र का कोई खास मतलब है। लेकिन वे तो खुद मतलबी थे, मेरा मतलब उन्हें वाहियात मालूम पड़ा। आखिर नन्दरानी के माँ-बाप ही गया गए। नन्दरानी का खयाल रखने के लिए मुझसे कहते गए। उसके घर में और कोई नहीं, ऐसे मौके पर मैंने उनका दिल दुखाना बुरा समझा।

रात नन्दरानी ने मेरे बिस्तर पर बैठ कर बड़ी गम्भीरता से पूछा :—"ललन भैया। तो अब क्या होगा ?"

मैंने कहा :—"तेरा गौना।"

तीन रोज बाद मामा की चिट्ठी आई बिमार का हाल अच्छा नहीं; नन्दरानी को लेकर जल्द गया आओ। मैंने दिनभर हैरान होकर कहार ठीक किए, पालकी मंगवाई। शाम चार बजते-बजते जब नन्दरानी चलने को हुई, शोरगुल करते साथियों के साथ नकछेदी तिवारी पहुँचे। मैं दूसरी जगह का क्रिस्तान उनके गाँव की नाक कटवाने पर तुला हू ? मुझे बहुत बुरा लगा। मैंने कहा, कृपा कर आप लोग जाइए, हम धर्म-वर्म नहीं मानते।

"तो फिर तुम मानते क्या हो ?"

"कुछ नहीं। आज की दुनिया में कुछ भी मानने लायक न रहा।"

मैं सारे गाँव का भांजा था। वहां मेरे पाँव पुजते थे। कोई ज्यादा बहस न सका। मैंने ऐसे भले मौके को हाथ से निकलने देना अच्छा न समझा। नन्दरानी को खीच कर पालकी में बैठाने लगा।

लेकिन तब तक तो सब मुझ पर टूट पड़े। नन्दरानी को जबर्दस्ती घर में बन्द कर दिया, जोर-जोर से चिल्लाते हुए, कि हम डंडे के जोर से धर्म की रक्षा करते हैं।

कमजोर होने के कारण अहिंसा की महिमा का कटु अनुभव करता चुप रह गया।

दूसरे ही रोज उसके माता पिता आ धमके। मैंने सोचा, नकछेदी नाना की कहानी सुनाऊँ, तो गुल खिले। लेकिन यहाँ तो रोदन से घर की दीवारे भी द्रवित होने लगी थीं। आह ! अब तक नन्दरानी विधवा हो चुकी थी।

रात एकान्त देखकर बड़ी शान्ति से उसने अपना पहला सवाल पूछा :—

"ललन भैया। तो अब क्या होगा ?"

जबाब में मैंने उसके नए-नए सूने हुए नन्हें-नन्हें हाथ पकड़ कर उसे लो की तरह लपेट लिया। उसने परे हटते हुए कहा :—

"भैया। उस रोज तुम्हीं ने कहा था – "अब यह सब अच्छा नहीं।"

मैं उस घड़ी उसकी सिन्दूर-पुंछी माँग पर खून के आँसू टपका रहा था।

दो दिन बाद मैंने उसके पिताजी के चरण छुए—अब मेरे मामा के जल्दी लौटने की उम्मीद नहीं। मैं वापस घर जाता हूं।"

ज्यों ही नन्दरानी को खबर मिली, वह भाग कर मेरे पास आ पहुंची। "क्यों भैया ! भागे क्यों जा रहे हो ? अब तो मैंने अच्छी तरह रोना सीख लिया। क्या अब भी राग में नहीं रोती ?"

:-०-:

पण्डित जी

सरेशान तम्बाखू की पत्ती खत्म होते देख पण्डित बुद्धिदीन बावले हो गए। वह ब्राह्मण हैं, बिना मांस-मछली के भी एकाध दिन भोजन कर ले सकते हैं ! और जैसे तगड़े हैं, कोई जरूरी नहीं कि उस दिन उन्हें कब्जियत हो ही जाए। लेकिन बगैर तम्बाखू के तो वह चैन से एक पल भी नहीं गुजार सकते। तो फिर अब क्या हो ?

दिन भर पानी बरसता रहा है। सुनहर नदी छोटी है, इससे क्या ? पहाड़ी होने के कारण आज तो उसमें जोरों की बाढ़ आई हुई है।

लोग-बाग किनारे-किनारे चल कर झाग-झाग पानी की उछाल देख रहे हैं। कुछ गरीब तैर-तैर कर धार पर उतराई सूखी लकड़ियाँ छान-बीन रहे हैं। जान की बाजी लगा रक्खी है मरभुखों ने।

अह ! हटाइए भी, इनकी जान की क्या कीमत !

बाजार उस पार है। इधर इतनी बड़ी बस्ती में तम्बाखू की भी एक छोटी-मोटी दुकान नहीं। यहाँ वाले आदमी हैं या -- — — -।—

झल्लाते हुए बुद्धिदीन किनारे पर पहुंच गए हैं। देखिए न, लोग-बाग उन्हीं को तो प्रणाम कर रहे हैं। वह सब को हाथ उठा-उठा कर आशीर्वाद दे रहे हैं।

"अजी, वह कौन लड़का एक हाथ से छतरी ताने, और दूजे में कुछ सामान-वमान लिए हुए खड़ा-खड़ा तैर रहा है ?"

"जगमोहना है वह।"

"अच्छा-अच्छा, वह नाई लड़का।"

"हाँ, अभी पिछले ही साल उसका बाप मरा है, घर में बूढ़ी माँ और एक अधेड़ विधवा बहन भर है। कम्बखत किसी की एक नहीं सुनता। पेड़ की ऊपरी से ऊपरी डाल पर पासी की तरह खर्र-खर्र चढ़ जाता है। और तैरने में तोपूछिए मत, कमाल ही करता है। एक पैसा करीमन साँई ने दे दिया है, बस, हसता-हंसता उसीका सामान लिए तैरता चलता आ रहा है।"

देखते-ही-देखते अन्धेरा गहराने लगता है। आसमान में काले-काले बादल छाए हुए हैं। ऐसे में मुमकिन है, फिर पानी बरसे, और इसी तरह दो एक रोज लगातार बाढ़ उमड़ती रहे! फिर बुद्धिदीन का क्या होगा?

"जगमोहन! एक दफा और हिम्मत कर बहादुर! तैरने में मजा ही मजा तो है! जरा पण्डित जी के लिए तम्बाखू ला दे। दुखहरण की दूकान से खूब पुरानी पत्ती देख कर लेना।"

बुद्धिदीन दो पैसे जगमोहना की हथेली पर रख देते हैं। उसकी देह ठंड से सिकुड़ी जा रही है। वह एक साथी के कंधे से मैला-सा अंगोछा लेकर अपना बदन पोंछने लगता है।

—"पण्डित जी! अब रात हो गई। कल खूब तड़के ला दूँगा। इस वक्त डर लग रहा है।"

"डर? मेरे आशीर्वाद के रहते भी डर? ब्राह्मण का कार्य है बेटा! इसमें आनाकानी करना उचित नहीं।" बुद्धिदीन के स्वर में औरों के गले भी मिल जाते हैं।

करीमन मुसलमान था, एक पैसा इनाम दे दिया था। पर यह तो गाँव के देवता का काम है, छिः-छिः, इसमें इनाम का नाम लेना कितना बड़ा पाप है!

देखते ही देखते जगमोहन उसपार चला जाता है। लोग उसके नटखटपन की शिकायत के साथ-साथ तैरने, पेड़ चढ़ने वगैरह की तारीफ करते रहते है।

इतने में बिजली कड़कती है। आसमान फाड़कर पानी बरसता है। सब अपने-अपने घर की राह लेते हैं। बुद्धिदीन भाग कर अपने घर पहुँच जाते हैं। बिजली की कड़ी कड़क से कान बन्द कर भीतर ठाकुरजी की कोठरी में बैठते हैं।

× × ×

आधे घंटे के बाद। तपेश्वर दौड़ता हुआ उनके पास आता है; "चाचा-चाचा! जगमोहन डूब गया! आपलोग भाग आए; लेकिन मेरे पास छतरी थी, मैं वहीं खड़ा रह गया था। मेरे देखते-देखते वह पानी में पैठा था, तम्बाखू वाला हाथ ऊपर उठाए हुए था!"

बुद्धिदीन 'भंगवोटना' उठाते हैं; —"चुप बदमाश! तम्बाखू वाला हाथ ऊपर उठाए हुए था!—अन्धेरे में बिल्ली की तरह तुझे यह सब दिख गया?

साला डूबा तो डूबा अपनी करनी से, ऐसे नटखट को आज नहीं तो कल डूबना ही था ! उफ, दो पैसे भी मेरे ले डूबा ! तुझे बस उसी की फिक्र है !"

"यह लीजिए अपने दो पैसे !"– तपेश्वर अपनी तरफ से दे देता है। "लेकिन खबरदार, अगर उस बेचारे को फिर 'साला' कहा। यही बाँभन हैं ! जिसके लिए अपनी जान दे दी, वही उसे साला कहता है !"

घृणा से तपेश्वर उधर घूमकर घूरता भी नहीं, चुपचाप बाहर निकल आता है।

लेकिन यह क्या ? दरवाजे पर जगमोहन पंडित जी को पुकार रहा है। बुद्धिदीन खड़ाऊँ से खटर-खटर करते हुए जल्दी-जल्दी बाहर आ जाते है। तम्बाखू झपट कर उसकी पीठ ठोकते हैं। वह ठिठुर कर थर-थर काँप रहा है।

तपेश्वर पूछता है—"तू तो डूब गया था न रे ?"

वह बिहँस कर बताता है– 'वाह उस्ताद ! मैं क्यों डूबने लगा ? तुम्हीं थे क्या किनारे पर खड़े ? आह हा,–तभी ! मैं तो डुबकी मार कर तुम्हें डरा रहा था !"

बुद्धिदीन बड़े जोरों से हंसे। "सोई कहूं, ब्राह्मण पण्डित का अमोघ आशीर्वाद ! यह आज्ञाकारी बालक कभी डूब भी सकता है ?"

तपेश्वर उनकी तरफ बरछी-सी तिरछी निगाह से देखता है। उसे जाने क्यों ऐसा आभास होता है कि पण्डित जी उसके पैसे वापिस दे रहे हैं !

लेकिन तब तक तो अमूल्य आशीर्वाद देकर उन्होंने दरवाजा बंद भी कर लिया था।



बाँसों का झुरमूट

बाँसों के झरमुट से गुजरती हुई हवाएँ सिसकियाँ भर रही थी, जैसे आंखों से ओझल हुए की खोज किसी धुँधली तसवीर के बिखरे टुकड़े बीन रही हो, हवा का कोई भी झोंका क्यों नहीं एक गुमनाम चिराग बुझा पाता ?

जो बीतता है वह पूरा क्यों नहीं बीत जाता ? क्यों कँटीली यादों में मन को घसीटता रहता है ! जो नियम-कानून की चौखट में कैसे भी नहीं कसा जा सकता, उस पर माथा मारने से क्या फायदा ? क्यों कभी आँसुओं-भरे होंठों में उलझे बोल सिसकियों में फूट पड़ते है?

तब उसकी बचपन और जवानी की हदें मिल रही थीं । निकलते-पैठते दिन थे । उसकी तरक्की पाई हुई शक्ल ओछी आँखों को गवारा न था, गो नजरें फिरती थीं सब की उस पर । और एक रोज वह यों निकली, बादलों के घेरे से चाँदनी की तरह कि फिर काली घटाएँ बेबरसे कट-छँट गई ।

बरसों बाद फटे हाल लौटी; टिमकी की तरह निकला पेट, चुचके कुम्हड़े की तरह सूजा जर्द चेहरा । अब किसी ने उसके दरवाजे पर दस्तक न दी । अब उसके भरे-भरे लाल-लाल होंठ न थे । घुटनों तक लहरे बाल मकड़ी के जालों-जैसे उलझे नजर आते थे । अब तक बेले के सारे फूल झड़ चुके थे । अब वह फब्तियाँ कसने पर चौंकती भी न थी, शायद गूँगी, बहरी हो गई थी ।मर गई ।

दुनिया का निहायत बेशर्म आदमी, मगर बेहद कामयाब । आवारागर्दी करते मसें भीगीं । जात-पाँत, रिश्ते-नातों से ऊपर ऊठा, पूरा परमहंस । घर-परिवार की औरतों के गदबदे जिस्म के बदले पॉकिट खर्च भर निकाल कर बतीसी दिखाने वाला । किसी की गरम जेब देख काली आँखों से 'नव उज्ज्वल जलधार' छलकाने वाला । लुच्चे-लफगों और ऐबी लोगों में गुजर बसर करते 'केसर रंग-रँगे' चेहरे की रौनक बढ़ती ही गई । चमन से खदेड़ा गया तो पार्कों की हवा खाता फिरा । लौटा किसी खेली खाई के साथ, नई रोशनी की फिजा, कामयाब जिन्दगी का बेहतरीन तोहफा हासिल कर । सब ने सर- माथे लिया ।

  

अन्धविश्वास कि पलाशवन के आस-पास ढोर-डंगरों के साथ आते-जाते, दिनदहाड़े, भूत-प्रेत दिखाई देते । डेढ़साल बाद झग्गू गाँव लौटा था। दादी थी, हैजे में चल बसी थी। घर में घुसते ही वह रोटी सेंकती दिखी। हाथ-मुँह धोकर खाने कहा। खाना खूब जायकेदार था। मिर्चे का अचार दादी के हाथ अट्ठारह महीने बाद खा रहा था, पहले ही कौर में जल्दी-जल्दी निगल कर एक और माँगा। दादी असमंजस में पड़ गई। ठूक रुककर बोली: अच्छा, आँख मूँद ले, अभी अचार आ जाता है।

दादी ने घर के भीतर की तरफ गरदन घुमाई। झग्गू आँख मूँदने का बहाना बना हँसती, अधमुँदी आँखों सब देख रहा था। वह पीढ़िया पर बैठे ही बैठे एक हाथ लम्बा कर प्रायः पन्द्रह हाथ के फासले पर रखे मटके से अचार निकालने लगी। झग्गू की अचार के लिए लार टपकाती हुई जीभ सूख गई, तालू से सट गई, वह सर पर पाँव रखकर 'भूत-भूत' चिल्लाता हुआ भागा और बूढ़े महादेव के चौरे पर इक्के-दुक्के जमे लोगों से हाँफ-हाँफ कर अभी का सारा किस्सा कह सुनाया। ब्रह्मा जी ने चौंक कर पूछा: अरे झग्गू, तू तो ठीक-ठाक है? तू भी कहीं दादी का पोता तो नहीं?

झग्गू ने उतरे गले से पूछा:

क्या मतलब?

विष्णु जी ने मतलब बतला कर जानना चाहा कि वह कब आया? कैसे बस से उत्तर कर सीधे सुट-से अपने घर में ही समा गया? क्यों कोई गली-कूचे में न मिला? उसकी दादी महीनों पहले मरी, क्यों किसी ने उसे सूचित न किया? उसकी दादी की लाश नदी में फेंक दी गई थी। श्राद्ध-तर्पण कौन करता?

महेश जी ने कहा: किसी को इसका अता-पता मालूम होता जब तो खबर जाती! यों कहाँ खबर भेजी जाती? ज्योंही हैजा फैला, लोग जहाँ-तहाँ भाग गए, इसके टोले में तो शायद ही कोई रुका रहा था! इसकी दादी अकेली असहाय पड़ी रही। कब मर गई, किसी ने न जाना।

शालग्राम जी ने मेघ-मन्द्र स्वर में उसे आश्वासन दिया: आए हो तो कुछ काफी कमा-धमा कर ही आए होगे! अब खर्च करने की जरूरत है, आखिर कोई कमाता किस लिए है? देखते नहीं, तुम्हारी दादी की आत्मा भटक रही है, तुम्हारे लिए रोटी सेंक रही है! हाँ तो, दूसरों की तरह मुझे लाम-काफ पसन्द नहीं है। कल तुम अपने हाथों उस घर में आग लगा दो।

घर-बारी की सारी जमीन दान कर दो। नहीं तो टनकवार के किसी लिखे-पढ़े दयालु बाबू के हाथ आधे- चौथाई दाम में बेच दो ! अब उनकी दया, सौ-पचास रुपए जो दे दें !-- सुनकर झग्गू धम्म से चौरे पर बैठ गया।

राम जी ने कहा : तुम समझे नहीं, तुम्हारी ठहरी भुतहा जमीन, पलटन बाबू ठेकेदार पच्चीस से ज्यादा न देंगे। अभी हम दो-चार लोग ही यह सब जान पाए हैं। कल गाँव भर को कानों-कान खबर हो जायगी। अकेले मन्दिर के बाबाजी खबर फैलाने के लिए काफी हैं अलबत्ता मुझ से प्रेत-शान्ति कराओ तो मैं मुफ्त,—मेरा मतलब है कि महज तुम्हारे घर और बारी के एवज में, भूत भगा दूँगा। फिर तुम जितना कमा कर, जमा कर लाए होगे उतने में बाँभन जिवाँना, जात को खिलाना-पिलाना हो जायगा। श्राद्ध भले-भले सम्पन्न हो जाए, तो फिर यहाँ क्या रह जायगा, जहाँ जी चाहे चले जाना !

लक्ष्मण जी बोले: जायगा क्यों ? यह इसकी जन्मभूमि है। पलटन बाबू के यहाँ बधना माँज कर गुजारा कर लेगा। बँधुआ मजदूर बन जाए तो डोमखाने के गलियारे में तीन गज जमीन भी मिल जायगी, सर छुपाने के लिए। झग्गू एक झुग्गी खड़ी कर लेगा ! गाँव भर के लोग मदद करेंगे। हाँ, अभी मगर अकेले ही अपने उस भुतहा घर में आग लगानी होगी। गाँववाले टुकुर-टुकुर देखेंगे, कोई हाथ मदद के लिए न बढ़ेगा। भूत-प्रेत की बात है - कुछ हँसी-ठट्ठा नहीं !

भरत जी झग्गू को सुनाकर शत्रुघ्न जी से कहने लगे: धर्म धर्म है, उसके ऊपर कुछ नहीं। अभी उस दिन मँगरी बुढ़िया के सर पर बुधुआ का भूत सवार हो गया था। बुढ़िया बकरे की बली माँगने लगी। कभी उसने लहसुन-प्याज तक न खाया था, उस दिन कच्चा खून गट-गट पी गई। मँगरी के बेटे सोमरा ने मुझसे पुछवाया था: क्या किया जाए ? मैंने धर्म की बात बताई, बकरा काट कर अपने हाथों खप्पर भर खून पिलाओ —

वही हुआ।

× × ×

अनुग्रह पण्डित को सांप ने काटा। घर रोया किया, नीम की छैयाँ-तले गरुड़ बनने वाले ओझों की जगात सारी रात गाने गाती रही। 'गरुड़' हथेलियों और पंजों से चोंच और चंगुल में छटपटाते साँप की मुद्राएँ बनाता, फिर अपने चोखे दाँतों से बेहोश बीमार के कटे अँगूठे का जहर चूसता और

पास पड़े मिट्टी के बर्तन में उगल देता। सवेरा होते-होते पण्डित चंगे हो गए। चौरे पर बैठे पड़ोसियों ने खिल्ली उड़ाई : काटा ही न होगा !

साँप के काटे का इलाज है, ओछे 'गोत-दयाद' के सर-चढ़े जहर को उतारनेवाले ओझे भी साँप के बिल में हाथ डाल कर ही मन्तर आजमाते हैं।

× × ×

इसी गाँव के दो नौजवान नमककानून तोड़ कर 'लाइम लाइट' में आए। जहीन थे ही, अपनी सूझ-बूझ के आगे किसी के इसरार पर कभी-कभार ही रुकना-झुकना स्वीकार किया। जेल की काली दीवारों से वेपनाह रोशनी पाई, बजाहिर जिन्दगी का नजरिया बदलते-बदलते बदल गया। नौनिहाल जिनका नाम सरारस्ताना तारीफ के साथ लेकर खुश होते, उन्हें नदी-किनारे ठर्रे के नशे में घुत्त तमाम तरह की खुराफातें करने वाले देहाती नई पीढ़ी को बागी और गद्दार बनाने वाला बता कर गाँधी को गालियाँ देते। बहरहाल उन नौजवानों ने सकरी गली के घूरे की सड़ायंध पार कर कुशादा और साफ राहें पकड़ ली। दोनों गाँव छोड़ने पर मजबूर थे। वे बेशक बड़े बने, बड़ा गाँव छोटा हो गया।

× × ×

सुनी-सुनाई बातों की स्याह-सफेद कूचियों से गाँव की तस्वीर उरेही जाए, जिन्दगी के तजुर्बे को तरजीह दिए बगैर, अपनी वाकफी की मुसीबत टालने की गरज से, तो पस्त होने की कोई वजह न होगी, बिना पूंजी के रोजगार की तरह। बेहूदा शराफत और नाकाम ईमानदारी की जगह तरह-तरह के झूठ बोलने और बहाने बनाने के तौर-तरीके क्या शहर, क्या गाँव —सब जगह कामयाबी के तोहफे जुटा ले आते हैं : बर्दाश्त करने के रवैये से डराने-धमकाने की ताकत तोली जाती है। छीना-झपटी में गुजरे हुए वक्त की कीमत कूती जाती है।

मैं निस्वतन कम मर्तबे का सही, गाँव में जनमा, परवरिश पाई, इखलाक मजहब, रस्मो रिवाज का सबक लेकर बड़ा हुआ। कुछ ऊंच-नीच समझने के इरादे से गंदी आदतों वाले लोगों की सोहबत की। बदबूदार लाशों से नफरत हुई तो बड़े-बुजुर्गों, लिखे-पढ़ों, नामी-गिरामी लोगों का सत्सङ्ग किया। गाँव के लड़ाई-झगड़ों, मामले-मुकद्दमों में मेरी दिलचस्पी का क्या कहना, सत्तू बाँध कर चालीस मील पैदल चल कर, दीवानी और फौजदारी कचहरियों के आगे घुटने टेकता रहा। कभी कल का पानी नहीं पिया,

चमरौधे जूते उतार फेंके, इससे वकील और जज के आगे बेफाँस साँस में झूठ बोलने में काफी सहुलियत हुई। सब मेरा बाना देखते, 'मधुरी बानी' सुनते। गाली-गलौज मेरी रोजमर्रा की एक अदना सी- आदत थी, बेशक लोग-बाग को मेरे गाए भजन की ही बहुत याद आती थी।

× × ×

बाँसों के झुरमुट से एक मोटी-भर्राई-सी आवाज सुनाई दी, जयमुकुन्द की थी। कुछ के होंठ नागवारी के अन्दाज से हिल उठे, कुछ ने कड़वे-कसैले स्वर में वगैर खैरियत पूछे उन्हें लौटा देना चाहा। कीर्तन कराते थे। किसी भी वक्त कबीर के निर्गुण और तुलसी के सगुण पद घटा-फाड़ आवाज में गड़गड़ाने लगते थे। यहाँ 'निन्दक नियरे राखिए' और 'पर-उपदेश-कुशल' लोग इकट्ठे थे और सब की लच्छियाँ उधेड़ रहे थे कि कहीं कुछ उलझे तो कोइ सूत्र पकड़ में आए। बँसवारी में फिर कोई हरकत न हुई। मुझे बहुत दुख होता कि ऐसे सलूक का अन्दाजा होने पर भी वह इधर क्यों आते थे। बसवारी के उस पार भोले-भाले भक्तों की टोली, इस पार तेज-तर्रार भगवानों की !

यों सारा का सारा गाँव एक पाँव पर खड़ा। दिखता बुढ़वा महादेव के चौकोर चबूतरे के ईर्द-गिर्द, जब-जब शिवरात्रि आने को होती।

फागुन का महीना। नदी के चिनारे-किनारे गँवई-गाँव के पसीने के मोती टके सेर बिकते होते, खास कर कचनपुर के बेर बिकुआ मँगरा सेरा तक फैले रब्बी के खेतों के फलियों-लदे चने के पौदे, मटर की छीमियाँ, खेसारी की नीले फूलों वाली फुनगियाँ। रेत के टीलों पर ईंटों के चूल्हे जलते। मीठे और नमकीन गुलगुले छनते, लकटो, टिकरी, लाई-जैसी गुड़ की मिठाइयों पर मार पड़ती रहती। लाल-पीले कपड़े से मुँह ढके मुफलिसी मुसकिराती। बुढ़वा महादेव दिन-दिन भर नहाते और फूल-बेलपत्र से सजते रहते।

लगभग सभी बड़े-बूढ़े चौरे पर आसन जमाते और गाँव की गन्दी राज नीति पर चर्चा करते: ठनठन सिंह ठेकेदार सुर्खाबी मूछों पर ताव देते हुए कहते; 'परिआग बाबू से बुढ़वा मन्दिर का ठेका हम न लेते तो देखते, कैसे ये जवान अमल-पानी करने यहाँ इकट्ठे होते। बस उस टोले-वालों की तरह कहीं बसवारी में छिपकर दम मारते। अब यहाँ का ठाठ ही निराला है! शङ्कर का दरबार है—काँटा लगे न कंकर ! छुटकर भाँग घोंटो, दम लगाओ, तम्बाकू की पीक फेंको। ठट्ठा करो या हाथा-पाई या मारपीट, कोई रोकने

वाला नहीं। किसी की बहू-बेटी नदी नहाने उतरे, उसे एकटक निहारो, आनी-बानी बोलो, कोई मना करे तो इसी चौरे पर दे मारो, ढेले से मुँह थूर दो! किसी के बाप की मजाल नहीं कि 'टंटियई करने की हिमाकत करे! यह बुढ़वा महादेव का दरबार है? जय भोले भण्डारी, हर-हर शङ्कर, दुश्मन की आँखों में काँटे लगें, पाँवों में चुभें ककर!"

छैलचिकनियाँ धोती के छोर से गली बुहारते पधारते और गले-गले मिलते और आँकी-बाँकी अदाओं में खड़े-खड़े उड़ते नजारों पर नजर गड़ा कर कहकहे लगाते हाय! कैसी-कैसी झूलती झुलनियाँ! हंस की, मोरनी की, मुर्गी की-सी चालें!

इसबार भी सब वैसे का वैसा ही चल रहा था कि पिछली रात अनहोनी हो गई। शिवरात्रि के पवित्र मेले में थोड़ी-बहुत चोरी-डकैती, गुण्डागर्दी तो होती ही थी, इस बार चुनरी दागदार नहीं, तार-तार हो गई। कानू सेठ और उनके लाडले मनहर का खून हो गया। सुबह-सुबह हो-हल्ला मचा, मेले में भगदड़ मच गई। कानू सेठ की दूकान के सामने देहाती भुच्चड़ों की भीड़ जमा होने लगी। छह माइल पार थाना, कोई सवारी नहीं, पैदल पुलीस के आते-आते डेढ़ पहर दिन चढ़ गया। सुक्कन चौकीदार पसीना पोंछकर अगौछे से हवा करने लगा।

बड़ी मुश्किल से दारोगा जी जगे, दो घड़ी रात बीतते-न-बीतते खाकर दो बोतल चढ़ाई और लुढ़क गए थे। यहाँ के तनाव और डर की बातें सुनकर सिपाहियों को साथ लगा दिया, आप फिर हाथ-पाँव फैलाकर पड़ रहे। गंगू सिपाही जी बोल रहे थे कि अभी उठते ही कटोरे भर कलेजी का कलेऊ लेंगे, गड़गड़ा गुड़गुड़ाएँगे, जब तक कहार ढुँढ़वाए जाएँगे, कहीं दुपहरिया के बाद खटोले से आयेंगे।

सुक्कन ने बड़ी हिकारत से तम्बाकू थूककर पालथी मार ली, उसका दागदार काला-कलूटा चेहरा हंसी का फव्वारा छोड़कर पिचक गया।

थोड़े ही दिनों आगे नमक-सत्याग्रह छिड़ा था, तब दारोगा कैसी मुस्तैदी बरतता था, पं० यदुनन्दन शर्मा और रामाश्रय राय कहकर कानून तोड़ने जा रहे थे जो! यह जुर्म तो उससे कहीं सगीन था। कानून तोड़ने वाले खून से हाथ रंग चुके थे, मगर कोई खूनी पकड़ में न आया। औरतों की गवाही नहीं सुनी गई। और जिसके दर के सामने लाश पड़ी थी वह भी चश्मदीद गवाह न हो सका। चार रोज चहल-पहल रही, मामला ठप्प पड़ गया। लाशें पोस्टमार्टम के लिए गया गईं, फिर जाने कहाँ? सेठ बीकानेर के थे, उस लड़के के अलावा

उनके अपना कोई न था। मैं तब तेरह साल का था। बुढ़बा महादेव का चौरा गहगहाया हुआ था। हमेशा की तरह बड़े-बूढ़ों से सटकर नन्हें-मुन्ने भी बैठे थे। मैं एक बुजुर्ग से गुस्ताखी कर बैठा कि ऐसा क्यों हुआ ?

बुजुर्ग ने इसे किसी पाप का फल बताया। मनहर मेरा हम-उम्र था। सुबह-सबेरे नदी में नहाकर बुढ़वा महादेव के मन्दिर में पहले पहुँचने में हमारी होड़ होती थी। जिस बीफे की रात में उसकी हत्या हुई थी, उस सुबह भी मुझसे पहले पहुँच कर जलधरी में जल ढाल रहा था। मैंने कहा: बाप ने पाप किया होगा, बड़ा-बुजुर्ग दुनियादार रहा होगा, उसका बेटा तो दूध का धोया था, वह क्यों मारा गया ?

'बाप के पाप से !'—जवाब मिला। मैंने कहा: झूठी बात ! बाप का पाप बेटे को क्यों लगने लगा ? उस दिन पण्डित जी कथा कह रहे थे, हिरण्य कशिपु पापी था. प्रह्लाद पुण्यात्मा। बाप का पाप बेटे को जला सका ? वह अपने पुण्य से बाल-बाल बच गया !

बुजुर्ग ने खाँसकर गला साफ फिर, किता बताया : वह सतयुग की कथा है, तब वैसा होता था। फिर कभी न हुआ। त्रेता में रावण के पाप से मेघनाद मरा. द्वापर में अर्जुन के पाप से अभिमन्यु को मरना पड़ा।

अर्जुन के पाप से ?—मैंने चौंक कर पूछा।

बोले: हाँ ! अर्जुन के पाप से ! अर्जुन ने भाई की बात मानी थी।

'अब आप बाप से भाई पर आ गए ! भाई की बात तो लक्ष्मण और भरत ने भी मानी थी !'

'पर वह भाई राम थे और युधिष्ठिर कहलाता तो धर्मराज था, पर था जुआड़ी ?'

बात मेरे गले के नीचे नहीं उत्तर रही थी। वह शास्त्र-पुराण सुन रहे थे। मैं मनहर के मारे जाने से बेहद दुखी था।

चौरे पर बैठे हुओं ने पगुराना बन्द कर दिया था। सब के कान एक-से खड़े थे।

बुजुर्ग समझा रहे थे : कानू सेठ था मक्खीचूस, दूसरी तरफ तकदीर का ऐसा साँढ़ कि लक्ष्मी उसकी दूकान में झाड़ू-बुहारू करती थी। बीफे ठहरा बाजार का दिन, जाने कितने लोगों से धेले-छदाम के लिए तकरार की होगी। किसी गरीब की हाय पड़ गई !

'हाय पड़ती तो उसे लकवा मार जाता. वह अन्धा या कोढ़ी हो जाता, मगर उसकी तो हत्या कर दी गई !'

सब एक ही है' – बूढ़े ने थक कर चिढ़े स्वर में कहा : कलयुग में जो जैसा करता है, वैसा पाता है। कहने वाले कह गए हैं– इस हाथ दे, उस हाथ ले।

कलकत्ता से नागेसर कल ही लौटा था। बोला :

आप झूठ कहते हैं ! मैं अपनी आँखों देखकर आया हूँ। पिछले हफ्ते जो साम्प्रदायिक दंगा हुआ, उसमे सब गुंडे बच गए. और फुटपाथ पर ज्यों-त्यों जिन्दगी बसर करने वाले एक-एक कर मार डाले गए। उन मासूमों ने कौन-सा पाप किया था ?

पण्डित गोपीनाथ जी चाँदी के फ्रेम वाले चश्मे के भीतर से देखते हैं। एक ओर बैठे तुलसी की माला फेर रहे थे, अचानक बोल उठे :

पाप अदृष्ट का फल है। जो अनदेखा है उसे देखने का दावा कौन करे ? तब हैं कि शास्त्र कहता है : कल्याण करने वाले की दुर्गति नहीं होती।

नागेश्वर ने खोखली दलील दी : क्या गरीब पापी होते हैं ?

गोपीनाथ जी की भवों में बल पड़ गए :

क्यों ? यह कौन कह रहा है ? अदृष्ट को किसने देखा है : शास्त्र कहता है कि गरीबी अभिशाप है पूर्वजन्म में किए हुए पापों का फल है !! अपराध का दण्ड है !!!

नागेश्वर ठहरा नई रोशनी का, समय की हवा खाया हुआ, दबा नहीं :

शास्त्र आप-जैसे ढोंगियों का बनाया हुआ है, सब झूठ है।

सात्त्विकता में पण्डित गोपिनाथ का कोई जबाव नहीं, मायाग्राम में अकेले ज्ञानी है, नागेसर जैसे-के मुँह नहीं लगते। सो उनकी आँखों में आँसू भर आए : शास्त्र झूठा है तो यह भी झूठा है कि कोई किसी की हत्या करता है ! तय है कि मनहर या कानू सेठ कीं इतनी ही आयु थी ! जाने का कोई बहाना चाहिए था. मिल गया।

ईसर बाबू गाँव के अकेले ग्रेजुएट, जमींदार, वकील, हौमियोपैथ, और भी बहुत कुछ थे। मरना था, मति मारी गई। चौड़ी-चकली छाती. तनी हुई मरदन, सोने के फ्रेम का चश्मा. खुलता रंग; कीमती कपड़े—वह भव्य, दिव्य

व्यक्तित्व जो देखता, देखता रह जाता। इधर मायाग्राम में मिडल स्कूल बनवाने की ऐसी सनक सवार हुई उन पर जो उन्हें लाद-लूद कर ले ही गई। नदी-किनारे एक लाख कच्ची ईंटें तैयार कराईं। पकवाने के लिए जगल से लकड़ियों का जुगाड़ न हो सका तो पण्डित जी से उनका सौ साल-पुराना बरगद का पेड़ माँग बैठे। न देने पर भी शायद कोई फर्क न आ पाता. पर उनके इतमीनान का ख्याल कर उन्होंने नाहीं नहीं की। जरूरत के वक्त आगे बढ़ आते थे—पुरोहित-यजमान का खानदानी रिश्ता था— उनकी विफल याचना उनकी अटूट आस्था के साथ खिलवाड़ क्या, विशुद्ध विश्वासघात होती।

सौ साल के विशाल वट विटप को चौमुखी प्रहार से धराशायी करने में कम-से-कम समय लगा। कटा पेड़ एक ऐसे मर्मभेदी क्रन्दन के साथ गिरा कि अड़ोस-पड़ोस की दीवारों में भूडोल का-सा करारा धक्का लगा। एक लड़का कौर लील रहा था. वह उसके गले की नलियों में कहीं अटक गया। एक दूसरा ही हंगामा शुरू हो गया। सब के सब उस 'Father of man' को जैसे भी हो, बचा लेने में जुट गए, बेचारे वनस्पति का करुण क्रन्दन अनसुना ही उस कर्कश कोलाहल में डूब गया। हाँ, वहाँ अब सदा-सदा के लिए नीरव निर्जनता ने बसेरा ले लिया है। उसके आसपास के लगभग सब घर ढह-गिर गए; घरवालों का कभी का सफाया हो चुका है। मगर यह तो अब की बात है. तब की बात यह थी कि ईंटें पकीं, स्कूल खड़ा हुआ, सिर्फ ईसर बाबू उसे न देख सके। इतना ही नहीं, गाँव-वालों की कृतघ्नता के चलते स्कूल में उनका एक फोटो भी न लटकाया जा सका।

एक बार फिर मेरी भवें तनीं और टूटीं : ऐसा क्यों हुआ ?

परमेश्वर पण्डित ने डपट कर कहा : शास्त्र-पुराण सुनोगे नहीं, कहानी-उपन्यास पढ़ोगे। आलस्य और आरामतलबी में जीवन बितानेवाले जीवन-मरण का रहस्य नहीं जान सकते। अध्ययन को ज्ञान के उद्देश्य से जोड़े बिना साक्षरता से अधिक कुछ नहीं हाथ लग सकता।'

मैं जैसे साल भर स्वाती की बूँदों का इन्तजार करता रहा। इस बीच गप्पियों का जमावड़ा देखने योग्य हो गया था। मेरे सरल प्रश्न को जान-बूझ कर जटिल बनाया जा रहा था। बात अब छोड़ने, टाल जाने या उड़ा देने-जैसी न रह गयी थी। मनहर और कानू सेठ की नृशंस हत्या का रहस्य शास्त्र खोलनेवाला था; बरगद कटाने की नई-से-नई घटना पर पुराण सबसे

नया प्रकाश डालनेवाला था, श्रद्धा-भाव से सर्वेन्द्रियों को कानों में एकाग्र किए हुए सब बैठे थे।

सुधाकर भाई सर्वज्ञता का दम भरते थे, पर इस घड़ी अस्वाभाविक रूप में चुप थे। एक दिन अशोक का एक धर्मलेख पढ़कर समझाया था कि कैसे वह पहले चण्डाशोक था, फिर 'देवानां प्रिय.' बना। कलिंग पर विजय पाने के क्रम में उसने डेढ़ लाख मनुष्यों को बन्दी बनाया था, एक लाख मारे थे और कई लाख मनुष्य युद्धकाल में फैली महामारी की भेंट हो गए थें। इस प्रकार, पाँच-सात लाख मनुष्यों की बलि चढ़ाने पर वह देवताओं का नयन-तारा (देवानां प्रिय प्रियदर्शी) हुआ था। यहाँ किन्हीं मरमुखों ने पेट की आग बुझाने डाका डाला होगा और फिर 'जिन मोहि मारा तिन मैं मारा' वाली घटना घट गई होगी। इतनी सी बात है। अब बैठे-ठाले तिल की ताड़ बना रहे हैं। शास्त्र में लिखा है कि सौ को मारने पर बैद्य बनता है, सहस्त्र को स्वर्ग भेजने पर वैद्यराज। अब कोई शास्त्रज्ञ ही बताए कि केवल दो मारवाड़ियों को मारनेवाला क्या बनेगा? कौन ऐसा बुद्धु देवता होगा जो अंजुरी भर 'लाल सुरा की धार लपट सी' पीकर मतवाला हो जायगा और छोटे-बड़े वरदान उगलना शुरू कर देगा? सो, वह त्रिकाल में 'देवानां प्रिय' नहीं हो सकता। अलबत्ता मोटी तोंद वाले मनुष्य-देवताओं को अपनी उपलब्धि का एक बड़ा-सा भाग निःशब्द अर्पित करने पर मुक्त हो सकता है—नितान्त प्रशान्त, रोष-दोष-विवर्जित, जय-विजय-कान्त।

फिर सौ बात की एक बात है—'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृति जीवन मुच्यते बुधैः'

शास्त्र बहुत कुछ वैसे ही हैं जैसा उन्हें तुम, मेरा अभिप्राय तुम-जैसे लोगों से है, समझते हो। यदि इन्हीं चर्म चक्षुओं से भगवान का विराट रूप देखा जा सकता तो अर्जुन को दिव्य चक्षु की क्यों आवश्यकता होती? तुम कहोगे : हमें किसी भगवान को देख कर क्या पाना है? हमें दिव्य चक्षु नहीं चाहिए!

ऐसी स्थिति में इन चर्म चक्षुओं से जो दिखलाई देता है उसे देखो; किन्तु दूसरों को उसे ही देखने पर विवश न करो। जिनके पास शास्त्र की दृष्टि है, वे तुमसे भिन्न देखेंगे। शास्त्र कहता है कि कलियुग में लोग अल्पायु होते हैं। साधना करने की रुचि या प्रवृत्ति नहीं होती। आलसी होने से उनका भाग्य मन्द हो जाता है और बुद्धि भ्रष्ट।

सत्य, दया, तप और दान—सत्ययुग के ये चार-चरण हैं। जो लोग सन्तुष्ट हैं, समवेदनशील हैं, सहिष्णु और समदृष्टि हैं, समझो, वे सतयुगी हैं।

इसका विलोम कलियुग है। माया, झूठ, हिंसा, और आलस्य और दैन्य कलियुग की पहली पहचान है। कलियुगी की दृष्टि ओछी, बुद्धि क्षुद्र और प्रकृति स्त्रैण होती है। एक शिश्नोदर-परायण कौड़ी-छदाम के लोभ में स्वजनों का भी वध कर सकता है। उसे अपने बूढ़े माँ-बाप पर भी दया नहीं आती। उसे साँप काँट खाए; चोर डाकू मार डालें; आग या बिजली की लपेट में वह आ जाए; अन्न-जल के अभाव में भूख-प्यास से मर जाए या फिर आधि-व्याधि की चपेट में आ जाए, उसे जिस विधि मरना लिखा होगा; मरेगा। क्योंकि आज मरे या सौ साल बाद, जिसने जन्म लिया है, उसका मरना तो निश्चित ही है। मनुष्य अपने प्रारब्ध को भोगने पर विवश है। जीवन-मरण मनुष्य के अपने किए का फल है, वह अपने ही सिरजे हुए सुख-दुख भोगता है।

नागेश्वर ने मुँह बिगाड़ लिया :

कैला बहू ने छह खुराक दवा एक ही बार में कैला को खिला दी, वह मर गया, इसे आपका शास्त्र क्या कहेगा ?

शास्त्र कहेगा कि कोई अज्ञानवश भी अग्नि में हाथ डालेगा तो हाथ जलेगा ही। हो सकता है, पत्नी से स्नेह की अधिकता के कारण ही वह अपराध बन पड़ा हो, परन्तु उसे तो इसी विधि मरना था। जैसे हवा घटा को फाड़ कर उड़ा देती है, उसी प्रकार काल कलेवर को।

पण्डित गोपीनाथ जी अभिमन्यु और राजा परीक्षित के करुण प्रसंग सुनाते रहे। नीम की छाँव में दम मारने वाले सुर में सब सुनते रहे और इधर नागेश्वर फुस-फुसा कर बिन्दु, इन्दु, तनमोहन और मनमोहन के कान खड़े किए रहा कि उसे शास्त्र-पुराण बखानने वाले लोग बड़े-बड़े बाँसों-जैसे लगते हैं, जो समय-समय पर कटते रहते हैं, और कुछ ही दिनों में फिर बढ़ जाते हैं। इन पीले बाँसों के झुरमुट से नया वैज्ञानिक सत्य झलकियाँ मारता रहता है जिसे पौराणिक पण्डितों का झुरमुटी ढोंग पूरी तरह खुलने नहीं देता। अब समय आ गया है कि ज्ञान और विज्ञान कंधे से कंधा मिलाकर एक ही रास्ते चलें। पुराणों की कथा-कहानियों से वैज्ञानिक युग बहलने से रहा।

किसुनी नागेसर से बहुत पहले से कलकत्ता रहता है। आर्यसमाज का सम्मानित सदस्य है। नागेसर के सामने उकड़ूँ बैठ कर डपट कर बोला :

क्या ज्ञान और क्या विज्ञान ? ईश्वर कृपापूर्वक अपनी आत्मा का विज्ञान स्वयं देता है, उसी से सत्य सुखों की प्राप्ति होती है, जन्म-मरण-रूप दुख उसी की अकृपा का फल है।

नागेसर अनेक टुकड़ियों में बँटती रहने वाली इकाई है। गाँव में घरौंदों की कतार चाँदनी के रुपहले कम्यून में खामोशी की परछाइयों की तरह डोल रही थी। उसकी आँखें फाँकों के भीतर ताकती-झाँकती रहती हैं कि कहीं से उसकी 'साँवरी सूरत मोहिनी मूरत' को सराहनेवाली कोई चितकबरी हँसी, किन्हीं नाजुक उँगलियों की चटकारियाँ, किसी की रग-रग में घुस जानेवाली बोली-ठोली उसके हर वक्त फड़कते होंठों को उकसाए; पर यहाँ तो खूसटों की की धौली जमात थी। छटपटा कर छुरछुरी छोड़ी : बिसमिल्लाह ही गलत है।

क्या कहा :– ईश्वर की कृपा-अकृपा ! यह क्या चीज होती है ?'

किसुनी हर घड़ी अपना शंख-छाप छाता कंधे से लटकाए रहता था, उसे उतारने लगा तो जान पड़ा, नागेसर पर दे मारेगा, मगर वह इतमीनान से पालथी मार कर बैठ रहा था, उसे ईश्वर की कृपा-अकृपा पर प्रवचन जो करना था :

ईश्वर के उपदेशों को मानना ही सब सुखों की जड़ है। ईश्वर के उपदेश हमें वेदों के रूप में प्राप्त हैं। जो उन्हें नहीं मानता, वह सत्य धर्म या मुक्ति को ही नहीं मानता। वह वेद-विरुद्ध अपनी कपोल कल्पनाओं के सहारे दुष्ट इच्छाओं के वशीभूत होकर बुरे कर्म करता है, उस पर ईश्वर की अकृपा होती है : उसका सत्यानास होता है।

और जिस पर उसकी कृपा होती है, उसे विद्या, बुद्धि, विज्ञान, आरोग्य, सुख-सौभाग्य और शान्ति की प्राप्ति होती है। उसके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकार के तापों का शमन होता है।

'बस-बस', पण्डित गोपीनाथ जी धोती के छोर से चश्मा पोंछते हुए बोले : —

सौ शङ्काओं का एक समाधान आपने दे दिया। ईश्वर कृपालु है, निष्पक्ष न्याय करता है। इस कर्म-प्रधान विश्व में जो जैसा कर्म करे, उसे वैसा फल दिया जाए, यही तो न्याय है। अब रही बात किसी जीव-विशेष पर कृपा-अकृपा के मूलभूत कर्मों का सन्धान। संक्षेप में यह कहा जा सकता

है कि स्वरूप से सभी जीव अनादि हैं, उनके कर्म भी अनादि है ओर यह जगत भी। स्वयं गोस्वामी तुलसीदासजी ने निष्कर्ष लिख दिया है :

कर्म–प्रधान विश्व करि राखा
जो जस करैं तासु फल चाखा।

× ×

बुढ़वा महादेव पीढ़ियों से बूढ़े हैं। जवान होते तो किसी की जवान पकड़ लेते, किसी पर त्रिशूल फेंकते, और किसी-किसी के माथे पर जलधारी का जल उँड़ेल देते। बूढ़े है चौतरे पर गोलाई में चक्कर लगाते, चापलूसी करते हुओं को रोकते-टोकते नहीं हैं। तभी जाड़े की कँपकँपी में महादेव पोते के हाथ में लोटा थमाकर कहता है :

'नहा देव,' लोटा उलट के पूरा पानी 'बहा देव।'

महादेव पचास की उमर में भी हट्टा-कट्टा, हवा में फड़फड़ाते कपड़े, नक्की स्वर में तोतली बोली,—बढ़कर बोलता है :

'बम बम बम'

बरसात में चबूतरे तक नदी का पानी चढ़ आए तो समझो सारा गाँव डूब गया। नौजवानों का दिल धुकधुकाता है तो बड़े-बढ़े तसल्ली देते हैं : गाँव नहीं डूबेगा, सन् सोलह में नहीं डूबा तो क्या अब बत्तीस में डूबेगा।

नौजवान खीसें निपोर कर मुसकिराता है : ऐसा भला क्या था सन् सोलह में ?

'सन् सोलह में ?'—एक देहाती मुच्च पत्तियाँ बटोरते-बटोरते बोला है : सन् सोलह में शिवाले बनानेवाले थे, लोग धरम-करम करते थे, ईश्वर से डरते थे, बाल्मीकि पण्डित-जैसे महात्मा बेलपत्र खाकर जीते थे, ब्रह्मदेव-जैसे बाल-गोपाल का अवतार हुआ था। धर्म की उस भयानक बाढ़ में गांव न डूबा तो अब क्या डूबेगा ?

× × ×

वंश-वंश के संघर्षण से जब-तब बाँसों के बन में आग लग जाती है। धुएं के बगूले और चटचट करती लपटें उठाने में जल-झुलस कर बाँसों का

वन श्मशान-की-सी विभीषिका धारण कर लेता है। फिर वर्षा होती है। आग बुझती ही नहीं, बँसवारी को और उर्वर बना देती है। नई-नई कोंपलों और करीरों से वह फिर लहलहा उठती है। सदियों से यही सिल-सिला चल रहा है। शक, हूण, यवन, जैन, बौद्ध, मुसलमान, मसीही, सब ने अपने-अपने ढंग से यह सिलसिला समाप्त कर देने का प्रयास किया, पर बुढ़वा महादेव ने कुछ होने न दिया, ऊपर की धूल फूँक से उड़ा दी।

बाँसों के झुरमुट से उदय-अस्त देखना संभवतः आँखो को अच्छा लगता है। भूखी-नंगी आँखें और दूर-दूर तक पसरी सपाट भूमि—नए दौर में द्रष्टा को क्या यह दृश्य भी देखना होगा ?



नि रा ला नि के त न

के

प्र का श न

१ बाँसों का झुरमुट

कहानी में कविता-जैसी तरल भावुकता उसकी मूल संवेदना को प्रायः क्षतिग्रस्त करती रही है लेकिन प्रस्तुत संग्रह की कहानियों के द्वारा प्रख्यात कवि–कथाकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने इसे गलत प्रमाणित कर दिया है कि यदि कथाकार की रचना-दृष्टि जीवन के व्यापक अनुभव-संवेदनों से निर्मित और परिपुष्ट हुई हैं तो भावुकता के बावजूद कहानियाँ कल्पना के इन्द्रधनुषी पंख लगाकर 'स्वर्ग के खण्डहर में' या किसी 'नीलम देश' में स्वच्छन्द विचरण करने के बजाय उस जमीन से सीधे जुड़ती हैं जहाँ जीवन की क्रूर सच्चाइयाँ अपनी सम्पूर्ण भयावहता के साथ घटित हो रही हैं। यही कारण है कि वादों, आन्दोलनों के शोर में भी यथार्थपरक, मानवीय संवेदना को व्यंजित करनेवाली कहानियों की अपनी अलग पहचान हमेशा बरकरार रही है। व्यवस्था द्वारा जीवन को अधिक से अधिक यांत्रिक या अमानवीय करने अथवा मनुष्य की संवेदनशीलता को तोड़ने की गहरी साजिश को बेनकाब करना और हमारी मानवीयता का विस्तार करना ही इन कहानियों का केन्द्रीय स्वर हैं।

'बाँसों का झरमुट' में एक ईमानदार रचनाकार की ऐसी ग्यारह कहानियाँ संकलित हैं, जिनमें कहानीकार ने अपनी व्यापक मानवीय दृष्टि के साथ, लगातार कुंठित हो रही हमारी मानवीयता के विभिन्न संकटों से सीधा साक्षात्कार किया है। सन् ३५-४० के आस-पास लिखी गई ये कहानियाँ आश्चर्यजनक रूप में भाषा-शैली के आधुनिक प्रयोगों के साथ समकालीन भारतीय समाज के कठोर यथार्थ को बिना किसी लेखकीय हस्तक्षेप के अभिव्यक्त करती हैं। जहाँ एक ओर पहली कहानी 'मीना' में एक विपन्न स्त्री और उसकी छोटी बेटी की दारुण कथा कही गई है, वहीं 'ईश्वर' में एक हरिजन लड़के और समृद्ध अभिजात वर्ग के बेटे के बीच सहज रूप में उगनेवाले नैसर्गिक मानवीय सम्बन्धों की राह में चट्टान के समान खड़ी होनेवाली क्रूर वर्ण-व्यवस्था के विद्रूप को चित्रित किया गया है, जिसमें लेखक का गहरी वर्ग चेतना भी स्पष्ट रूप में व्यक्त हुई हैं। इसी प्रकार संग्रह की अन्य कहानियों में भी कथाकार ने अपनी सुलझी हुई जीवन-दृष्टि के कारण हमें उन नगी सच्चाइयों के आमने-सामने ला खड़ा किया है, जिनसे हम अक्सर आंखें चुराते रहे हैं।

—डा० नन्दकिशोर 'नन्दन'



२ बाललता

'आचार्य्य जानकीवल्लभ शास्त्री काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ तथा भाषाविद् होने के साथ ही साथ छायावादी युगान्त के पश्चात् पैदा होने वाली रिक्तता को भरनेवाले हिन्दी-काव्यजगत् के उन थोड़े-से कवियों में एक हैं जिन्होने जातीय चिन्तन तथा चेतना के उन्नयन के लिए अनुशासित काव्य-सृजन की अनिवार्य्यता सिद्ध कर दी है।

'बाललता' कवि की प्रारम्भिक रचनाओं का एक ऐसा संकलन है जो संस्कार-सम्भव होने के साथ ही साथ सम्भावनाओं में ही निहित उपलब्धियों का अनुमान सहजता से करा देने वाला है।

'बाललता' न केवल आचार्य्य-श्री के काव्य-विकास को समझाने में अपनी आवश्यकता को स्वतः सिद्ध करने वाली है अपितु अपने समय के पण्डित कवि के किशोर पद-क्षेप का प्रतिबोध भी है। एक ऐसा प्रति-बोध जिसे तथा-कथित साठोत्तर कविता के क्षेत्र में खोजना और पाना मेरे विचार से आज असम्भव न भी हो तो कठिन अवश्यमेव है। सम्भवतः इस सहज कठिन के चलते ही आचार्य्य जानकीवल्लभ शास्त्री एक पूरी पीढ़ी के संस्कारक कवि के रूप में स्वीकृत तथा समादृत है।

—शलभ श्रीराम सिंह

३ महाकवि निराला

'निराला जी पर अनेक लेख निकले; पुस्तकें निकलीं और भविष्य में भी प्रकाशित होती रहेंगी; किन्तु आचार्य्य जानकीवल्लभ शास्त्री का यह संग्रह अनूठा है।

'बात इतनी ही नहीं है। यह संग्रह किसी प्रकार के वर्गीकरण में नहीं समा सकता। प्रथम संस्मरण काव्य के स्तर पर विचरता है, मन को द्रवित और व्यथित करता है। अन्तिम लेख में अनुसन्धान और विश्लेषण की टकसाली छाप है। वैयक्तिक भावावेश एवं बहुरंगी चित्र-लेखन एक ओर, और प्रयोगशाला का डिसेक्शन दूसरी ओर— इन दोनों से बीच इस संग्रह की विविधता में ही इसकी अनुपमता है। फिर भी जानकीवल्लभ जी का अपना व्यक्तित्व इन निबन्धों को सुवासित करता है, इन्हें अदृश्य सूत्र में पिरोता है।

'अगणित कवियों एवं अन्य समकालीन साहित्यकारों पर निराला जी का सीधा अथवा परोक्ष प्रभाव पड़ा; किन्तु जानकीवल्लभ शास्त्री उन दो-चार भाग्यवान व्यक्तियों में रहे जिन पर निराला की दृष्टि गजावलोकन करते-करते टिक गई। चमत्कारपूर्ण दृष्टि थी वह, क्योंकि उसने जानकीवल्लभ जी की अविकसित प्रतिभा को ऐसा आमन्त्रण दिया कि तब से इस कवि की चेतना और अभिव्यञ्जना जीवन की दारुण विभीषिकाओं के बावजूद बराबर सक्रिय और सजग रही है।

'निराला ने हिन्दी को अनेक उपहार दिए, आनकीवल्लभ जी की प्रतिभा का प्रस्फुटन भी उनका एक अनमोल उपहार ही है। इसलिए यह संग्रह वर्तमान हिन्दी-क्षेत्र का एक ऐतिहासिक डाक्यूमेन्ट है,— ऐसा दस्तावेज जिसे हिन्दी-साहित्य का परवर्ती इतिहास-कार बार-बार टटोलेगा।

'यह निर्विवाद है कि निराला की बहुमुखी प्रतिभा और उनके चुनौतीपूर्ण व्यक्तित्व पर अध्ययन और चर्चा बराबर चलती रहेगी। पर उस तेजोमयी भङ्गिमा का सम्पूर्ण अवलोकन जिन्होंने किया था, उन विरलों में एक आचार्य्य जानकीवल्लभ जी शास्त्री हैं। इसलिए उनका यह आयोजन, जिसे निराला-साहित्य का एक पुष्प-सोपान कहा जा सकता है, सर्वथा अभिनन्दनीय है।'

—जगदीशचन्द्र माथुर

उत्पलदल

'आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री छायावाद की' तरंगों से फेंकी मणि एक' है। नई कविता से लेकर अकविता तक के वर्त्तमान युग में, जब अनेक जाने-माने गीतकारों का कवि-व्यत्तित्व या तो विघटित हो गया अथवा उन्होंने अपनी दिशा बदल ली, शास्त्री जी ही शायद एकमात्र ऐसे कवि हैं, जो पूरी निष्ठा से अपनी गीत-आस्था को सँजोए चल रहे हैं और जिन्हें इस विधा की सामर्थ्य पर अशेष विश्वास है। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने जीवन की खुरदुरी सचाइयों का भावन नहीं किया हैं अथवा काव्य के अन्य रूप-शिल्प से अ-परिचित हैं। दरअसल, प्राचीन वाङ्मय के गंभीर अध्ययन, अपने देश की सुविशाल गीति-परंपरा के विशद ज्ञान, गहरी कला-निष्ठा और छायावादी संस्कारों ने ही उनके गीतिमय व्यक्तित्व को सुरक्षित रखा है।

,उत्पलदल' जानकीवल्लभ जी के प्राय: सन् ५५-५६ के आस पास लिखे एक सौ एक गीतों का सातवाँ संकलन है। कवि ने स्वयं इसके संबंध में प्रारंभिक 'गीतकथा' में निवेदित किया है—"चूँकि यह संकलन ही है, चयन नहीं, इस कारण 'रूप-अरूप' और 'तीर-तरंग' की भांति इसमें भी जीवन की प्रत्येक प्रकार की अनुभूतियाँ ठौर पा गई हैं—प्रकृति -दर्शन, अध्यात्म, सब गुँथ गए है।" निस्संदेह इस संग्रह में शास्त्री जी के कुछ बड़े ही सरल और कला-प्राण गीत स्थान पा सके है, यथा 'जीवन- जोत जले, दूर अपने से हुआ, हूँ इस तरह—आज मैं हूँ और, जीवन और है मैं अपने मन को मना रहा, तुम रोको अपना नयन-नीर' या 'मैं वनमाली अपने वन का।' दर्शन की जटिल गुत्थियों को गीतों के सांचे में ढाल देने की कला में शास्त्री जी को विलक्षण सिद्धि प्राप्त है। संग्रह में कई दार्शनिक गीत भी है, जो अपनी गहनता के बावजूद रसबोध में व्यवधान नहीं उत्पन्न करते।

'जानकीवल्लभ जी ने गीतों के क्षेत्र में भाषा और शैली की दृष्टि से अनेक प्रयोग किए है। 'दह बबूल का कटा-कटा-सा पेड़' जहां सोई हुई स्मृतियाँ' गजल की जमीन के आसपास की चीज है। कुछ रचनाएँ भाषा के प्रायोगिक गंगाजमुनीपन के कारण ध्यान खींचती हैं।

'उत्पल-दल' के गीत सजग धावबोध और शिल्प-निपुणता को रेखांकित करते हैं। पुस्तक का मुद्रण-आकल्पन नयनाभिराम है। जो लोग सांप्रतिक युग के गीतिकाव्य की संभावनाओं की खोज करना चाहें, उनके लिए संग्रह विशेष रूप से उपादेय है।'

—आनन्दनारायण शर्मा

रूप अरूप

'श्रीमान् पण्डित जानकीवल्लभ शास्त्री-प्रणीत "रूप-अरुप" नामक पुस्तिका मैंने देखी। वे संस्कृत के विद्वान हैं, फिर भी उनको हिन्दी भाषा की ममता है, और उसमें सुन्दर काव्य-रचना कर सकते हैं, यह देखकर मुझको हर्ष हुआ। उनकी प्रवृति छायावादी कविता की ओर है, परन्तु उन्होने कविता को जटिलता से बचाया है, और प्रसाद गुन की ओर ही उनकी समधिक दृष्टि है। कहीं-कहीं संस्कृत की कोमल-कान्त पदावबी से भी उनकी कविता विभूषित है। आशा है' हिन्दी-संसार में उनके ग्रन्थ का आदर होगा।

—कविसम्राट् पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

''यद्यपि श्री जानकीवल्लभ शास्त्री संस्कृत के आचार्य हैं, [आपकी भाषा में सादगी और सरलता है। छन्दों की गती और उनला प्रवाह ही हमें बताता है कि हिन्दी कविता में एक नयी शक्ति जाग्रत है। 'तेकनिक' के मामले में 'रुप-अरुप' विशेष आकर्षक हैं हमें विश्वास है कि आगे चल-कर आपकी भावना प्रौढ़तर होगी और हिन्दी को आप पर गर्व होगा।

"रूप-अरूप" के "साहित्य, संगीत और दर्शन" से हमें विशेष हर्ष हुआ, क्योंकि हिन्दी-काव्य का यह तरुण रूप सर्वथा आशाप्रद और संतोषजनक है।"

— प्रकाशचन्द्र गुप्त

'शास्त्री जो संस्कृत के आचार्य्य तो हैं ही. हिन्दी में आकर वे हिन्दी के भी हो गए हैं। समय-समय पर वे मासिक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा पाठकों के हृदय पर मुद्रित हो चुके हैं, अपनी कविताओं और समीक्षाओं से। आपकी 'काकली' नामक कविता-पुस्तक संस्कृत-साहित्य को एक आधुनिक कला-ज्योति प्रदान करती है तो प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी कविता को एक सांस्कृतिक विस्तार देती है। हमारा भावी साहित्य ऐसे ही नवयुवक स्तम्भों पर सुस्थिर होगा।'

—शान्तिप्रिय द्विवेदी

क्रमशः छायावाद-काव्य की बौद्धिक परिपाटी और व्यावहारिक मानवता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य-भंगिमाएँ अधिकाधिक स्पष्ट होती गई हैं। 'प्रसाद' से लेकर जानकीवल्लभ तक नवयुग की वाणी में यही अव्याहत ध्वनित हो रहा है। कहना न होगा कि विकासशील संस्कृति की यही प्रतिनिधि वाणी है।

प्रसाद जी के उदय-काल से लेकर आजतक के छायावाद में समय के साथ ही जो आश्चर्यजनक परिवर्त्तन हुए, वह इसकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं।

— नन्ददुलारे वाजपेयी

६ शिप्रा

छन्द एवं विधान की दृष्टि से शिप्रा की एक-एक रचना अपनी स्वतन्त्र विशेषताएँ रखती हैं। अगर अनुभूति की एकाग्र अभिव्यक्ति एवं भावों की चित्रात्मकता गीति-काव्य का लक्षण है, शिप्रा की प्रायः सभी कविताएँ इसी कोटि में आ जाती हैं।

"जानकीवल्लभजी मूलत: जीवन के आवेगों के शिल्पी हैं। इनके आवेगों का स्वर कलापक्ष के सुन्दर एवं सहज सामंजस्य के कारण भावनाओं को वह शक्ति प्रदान करता है, जिससे वे हृदय-हृदय में सहज ही घर कर लेती है। भाषा-प्रवाह एवं ध्वनि की विभूतियों से शिप्रा के गीत विभूषित हैं।

"शास्त्रीजी की गीति-कला का प्रकाश सम्पूर्ण हिन्दी-संसार में व्याप्त हो चुका है। उनसे हमें बड़ी आशाएँ हैं। 'शिप्रा' उनके व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप तथा गीतिकाव्य-प्रेमियों के लिए संग्रहणीय एवं मननीय है।"

—आर्यावर्त्त (पटना)

"शिप्रा की भाषा सरल तथा सुगमता से भावों को वहन करनेवाली है और इसमें हिन्दी को अपनी विशिष्टताएँ प्रकट करने का भी अवसर मिला है।"

—दिनकर

"शास्त्रीजी के गीतिकाव्य में उनके व्यक्तित्व की करुण-मधुर अभिव्यजना है जो संगीत की आत्मा और रस से मुखरित है।"

—डा० रामखेलावन पाण्डेय

"कवि के भावों का गाम्भीर्य उनकी प्रवाहमयी भाषा के साथ एक अद्‌भुत चमत्कारी प्रभाव पैदा करता है।" —नया समाज (कलकत्ता)

"यदि प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के बाद मुझसे हठात् पाँचवाँ नाम लेने को कहा जाय, तो वह नाम शास्त्रीजी का ही होगा। बहुत माथा खुजलाने के बाद भी पाँचवाँ नाम यही रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।"

—नलिनविलोचन शर्मा

७ राधा

(सात पर्वों का एक अकेला महाकाव्य)

मैं आचार्य्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री को हिन्दी का एक मात्र 'वस्यवाक' कवि मानता हूँ। हिन्दी में ही नहीं, समग्र भारतीय वाङ्मय में 'राधा' अन्वर्थनामा महाकाव्य है। शताब्दियों बाद हिन्दी में शब्दब्रह्म अपनी सहज शक्तिमत्ता प्राप्त कर चरितार्थ हुआ है।

—आचार्य्य सत्यव्रत शर्मा 'सुजन'
एम. ए. (द्वय), साहित्याचार्य्य

अशोक वन

